

सहजानन्द शास्त्रमाला

मंगलतन्त्र प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ‘सहजानन्द’ महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्यवर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक ‘मंगलतन्त्र प्रवचन’ अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्रीमनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishashastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल www.jainkosh.org पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हौरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्री सुरेशजी पांडा, इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छावड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone:94066-82889

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto>Email-vikasnd@gmail.com)

www.jainkosh.org

Contents

मंगलतंत्र प्रवचन	4
सात्त्विक रहन-सहन.....	86

मंगलतंत्र प्रवचन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी

“सहजानन्द” महाराज

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि ।

(१) शुद्ध तत्त्व का अभिवन्दन—शुद्ध के लिए नमस्कार हो । शुद्ध दो तरह से देखा जाता है—(१) एक तो निर्दोष हो जाये, दोष दूर हो जाये, पर्याय शुद्ध बन जाये, प्रभुता आ जाये, अरहंत और सिद्ध की अवस्था हो उसे शुद्ध कहते हैं । यह तो हुआ पर्यायशुद्ध । आत्मा का जो सहज स्वरूप है आत्मा सत् है ना, तो सत्त्व के ही कारण आत्मा में जो कुछ स्वरूप होता है वह शुद्ध कहलाता है । कोई भी पदार्थ जो भी पदार्थ है उसका अपना निज का स्वरूप आकार अवश्य है । स्वभाव बिना वस्तु नहीं, वस्तु बिना स्वभाव नहीं । जो भी है उसका स्वभाव अवश्य है? तो आत्मा का स्वभाव क्या है? प्रतिभास, ज्ञानप्रकाश, चैतन्यमात्र । उज्ज्वल है यह आत्मद्रव्य । जिसकी निजी विशेषता है कि वह ऐसा प्रतिभास स्वरूप है कि जगत में जो हो सब उसके प्रकाश में रहेगा । स्वभाव उसका ऐसा है । तो जो सहज ज्ञानस्वभाव है उसे भी शुद्ध बोलते हैं । जैसे दूध शुद्ध है तो उस शुद्ध के दो अर्थ लिये जा सकते हैं—एक तो ब्रतियों को दिलाने लायक शुद्ध, मर्यादा के अन्दर गर्म किया हुआ हो, बिना जूता पहिने दुहा गया हो, जिसमें कोई अशुद्ध पानी बगैरह न मिलाया गया हो । इस तरह शुद्ध दूध जो पवित्रता से लाया गया हो उसे शुद्ध दूध कहते हैं । यह तो एक व्यवहार नय से ब्रतियों को देने लायक एक शुद्ध दूध की पहचान है । उसमें अगर कोई अठपहरा थोड़ा पानी भी मिला दे तो भी वह शुद्ध कहलाता है । पर एक शुद्ध होता है द्रव्य शुद्ध याने दूध में कुछ भी मिलाया न हो और दूध में से कुछ निकाला न हो, ऐसे दूध को कहते हैं शुद्ध दूध । पवित्रता से भी लाया हुआ दूध हो और उसमें शुद्ध पानी मिलाया हो तो भी वह दूध शुद्ध नहीं कहा जा सकता । यहाँ वस्तु शुद्धि की बात कह रहे हैं । तो दुहकर लाये हुए दूध में पानी न मिलाये और उस दूध में से कुछ निकाले भी नहीं तो वह शुद्ध दूध कहलाता है । यही वस्तु की अपेक्षा शुद्ध कह रहे हैं । दूध में पानी मिलाया तो अशुद्ध, और दूध में से क्रीम निकाल लो तो वह सपरेटा दूध हुआ, वह भी अशुद्ध हुआ । दूध दूध ही हो, दूध में दूसरा कुछ न मिला हो और दूध में से निज का कुछ न निकाला हो उसे कहते हैं शुद्ध । इसी निगाह से आत्मा की शुद्धि देखो । जब हम आत्मा को इस तरह जान रहे हैं कि इस आत्मा में कोई दूसरी चीज नहीं मिलायी । जैसे कोई कहने लगे कि आत्मा में कर्मबन्धन है, आत्मा में देह लगा है । आत्मा में क्रोधादिक है । यह मिलावट ही है ना । भले ही इस समय जीव में कर्म लगे हैं, जीव देह में बँधा है, क्रोधादि करता है । मगर जीव की सत्ता से तो यह बात नहीं है । सहजस्वरूप से तो नहीं है । इस समय हम निश्चयदृष्टि से तक रहे हैं और उसमें भी शुद्ध नय से

परम शुद्ध निश्चयनय से । आत्मा में पर का कुछ मिलावट नहीं होता और आत्मा में से कुछ निकाला नहीं जा रहा । जैसे कहते हैं ना कि कि आत्मा में ज्ञानगुण है, दर्शनगुण है, चारित्रगुण है, आनन्द गुण है, तो ये जैसे मानो आत्मा में से निकलकर आत्मा में फिट कर रहे हैं । ऐसी निकाल जहाँ न हो ऐसा आत्मस्वभाव को निरखो । उस निरख में जो अवक्तव्य आत्मतत्त्व आया वह है शुद्ध आत्मतत्त्व । ऐसे इस आत्मा को नमस्कार हो । नमस्कार का अर्थ है झुकना । ऐसे शुद्धतत्त्व की ओर मेरा झुकाव हो ।

(२) दृष्टियों का सदुपयोग आत्मस्वभावदर्शन में—जब पर्यायदृष्टि से शुद्ध तत्त्व को देखा तो वहाँ भी हम शुद्ध अंतस्तत्त्व को निरखें तब व्यवहारदृष्टि के देखने का फल पाया समझिये । जब शुद्ध द्रव्यदृष्टि से निरखते हैं तो बीच की सब बातों को छोड़कर निरखते हैं । यह सब बात ज्ञान में सम्भव है । जैसे हड्डी का फोटो लेने वाला एक्सरा-यंत्र हो, उस पर कोई खड़ा हुआ है तो एक्सरा यंत्र से फोटो ली जाती है तो किसकी फोटो आती है? हड्डी की । और यंत्र के सामने तो पहले तो रोम आये, फिर चमड़ी है, फिर खून है, फिर मांस है, फिर भीतर हड्डी है । तो उस यंत्र ने इन सबकी फोटो लेना तो छोड़ दिया और सिर्फ हड्डी का ही फोटो लिया, तो जब इन बेजान यंत्रों में भी ऐसी तारीफ पायी जाती है कि जिसकी बात करना है उसकी करते हैं बाकी सबको छोड़ देते हैं, तब फिर इस पवित्र ज्ञान में क्या यह कला न होगी कि यह ज्ञान जिसको जानना चाहे उसको जाने? और बीच की कुछ भी चीजें आयें उनको न जाने । जब गरम किये हुए पानी को स्वभाव दृष्टि से देखते हैं तो इस ज्ञान में गर्मपना नहीं आता । ठंडापन आता है । उस ज्ञान में ऐसी तारीफ है ।

(३) स्वभावदर्शन कला की निरुपद्रवता—अहा इस आत्मस्वभावदर्शन की कला का जो उपयोग कर ले उसे विपत्ति आती नहीं । जैसे एक बड़ी नदी में कोई कछुवा है, वह पानी के अन्दर रहता है । उसने सोचा कि मैं पानी के अन्दर चलता रहूँ और अपनी चोंच पानी से बाहर निकाल कर घूमूँ । घूमने लगा । अब पूर्व दिशा से २-४ पक्षी आते हैं तो कछुवा ने पश्चिम की ओर अपनी चोंच कर ली । पश्चिम से कोई पक्षी आये तो फिर उस कछुवे ने पूर्व की ओर अपनी चोंच कर ली । बहुत से पक्षी चारों ओर से आ आकर उस कछुवे की चोंच चोंटने लगे । वह बेचारा कछुवा परेशान हो गया । अरे वह कछुवा अपनी मूर्खता से परेशानी में है । उसे कोई समझाने वाला हो—अरे कछुवे तू क्यों परेशान होता है । तेरे में तो एक कला है कि जिसका उपयोग करे तो ये २०-५० ही क्या, लाखों पक्षी भी तेरा कुछ भी बिगाढ़ नहीं कर सकते । क्या है वह कला?...अरे एक बिलस्त पानी के अन्दर तू अपनी चोंच को अपने को डुबा ले तो फिर ये लाखों पक्षी तेरा क्या कर सकेंगे? ऐसे ही यह आत्मा अपने ज्ञान सरोवर से बाहर उपयोग की चोंच निकालकर बाहर डोल रहा है । इन्द्रिय के विषयों में, धन वैभव में उपयोग डाले जा रहा है । फल यह होता है कि चारों ओर से कहीं से कुटुम्ब, कहीं से चोर, डाकू आदिक, कहीं से राजा, यों अनेक लोग इसे सताते हैं तो यह अपने उपयोग की चोंच बदलता रहता है । मां सताये तो बाप के पास चले गए, बाप ने सताया तो मां के पास चले गए, मित्र ने सताया तो किसी दूसरे के पास चले गए, इंस्पेक्टर ने सताया तो बकील के पास चले गए । यों उपयोग

बदलता रहता है। इस तरह से यह दुःखी होता। ये आचार्यजन, संतजन समझाते हैं कि हे आत्मन् ! तू अपनी मूर्खता से दुःखी हो रहा है। तेरे में तो एक कला ऐसी है कि जिसका उपयोग करे तो १०-२० की तो बात क्या, हजारों लाखों आदमी भी सताये तो भी तेरे को वे बाधा नहीं पहुँचा सकते। तेरे में वह कला क्या है कि तू अपने ज्ञानसागर में उपयोग की चोंच को डुबा ले, फिर तेरे पर कोई विपत्ति नहीं। यह विपत्ति तब तक है जब तक कि हम बाहर में कुछ देखते हैं, निरखते हैं, चाहते हैं, लगाव रखते हैं।

(४) अन्तस्तत्त्व की अनुभूति की महत्ता—प्रसंग यह चल रहा था कि अपना जो शुद्ध स्वभाव है केवल आत्मसत्त्व के कारण अपने आपमें अनादि अनन्त अहेतुक अन्तः प्रकाशमान जो एक सहज शुद्ध स्वभाव है उस स्वभावरूप अपने को स्वीकार कर लेना यह कहलाता है शुद्ध तत्त्व का आश्रय करना। इसी शुद्ध तत्त्व को निरखा था प्रभु ने और उसके फल में अपने आपका अनुभव किया, बस यह ही शुद्ध चैतन्य में हूँ। सहानुभूति, किसी दूसरे को दुःखी देखकर सहानुभूति आती है और सुख देखकर भी सहानुभूति आती है। और प्रभु का शुद्ध स्वरूप देखे वहाँ भी सहानुभूति आती है। किसी दूसरे जीव में जो कुछ हम देखते हैं झट हम अपने आपमें भी उस प्रकार का प्रभाव लाते हैं। लोग कहते हैं कि देखो मेरी माता ने गरीब पर दया की। बेचारा भूखा था, हमारी माता बड़ी दयालु है, देखो इस बेचारे को हमारी माता ने भरपेट भोजन करा दिया। अरे माता ने उस गरीब पर दया की या अपने आप पर दया की? हुआ क्या कि उस भूखे की पीड़ा का अंदाज करके माता का दिल खुद दुःखी हो गया। उसने अपना दुःख दूर करने के लिए उस गरीब को भोजन कराया। उस भूखे पर उस माता ने कोई दया नहीं की। कैसा ही धर्म करे कोई, सहानुभूति तो खुद की खुद में हुई। प्रभु का शुद्ध स्वरूप देखा। उस स्वरूप को देखकर प्रभु के स्वरूप में ध्यान लगाया, मग्न हो गए तो लोग क्या कहते हैं कि यह बहुत ऊँचे भगत हैं। ये प्रभु में ही मग्न रहते हैं। अरे प्रभु में कोई मग्न रह सकता है प्रभु तो दूर हैं। सिद्ध लोक में हैं या समवशारण में हैं, बाहर हैं। उनके स्वरूप का ध्यान करके जो उनके स्वरूप जैसा अपना स्वरूप तकने में आये बस उसमें मग्न हो गया। तो परमार्थतः वह अपने में मग्न रहा तो प्रभुस्वरूप को देखकर अपने में यह बुद्धि लायें कि मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। बड़ा उद्देश्य, बड़ा काम और अपना बड़प्पन, महत्त्व इसी में है कि प्रभु की प्रभुता जानकर, अपने आपकी प्रभुता निरखकर दीनता छोड़ें और सहज आनन्दस्वरूप में मग्न होने का यत्न करें। ऐसा काम करने में कष्ट भी बहुत आयेंगे। और असल में कष्ट एक भी नहीं आता।

(५) कष्ट को विवेक में अनवगणना—भैया ! कष्ट तो मानने का है। जैसे किसी का आज एक हजार रुपया घट गया तो वह बड़ा कष्ट मानता है। उस मोही से यह तो पूछो कि वह कष्ट कहाँ है तेरे आत्मा में? हजार जाने की जगह मान लो। घर में ही आग लग गई होती तो उससे तो अच्छे हो ना अब? ऐसा जब कोई समझाता है तो उसे कुछ समझ में आता है,...अरे कुछ कष्ट नहीं है। तो कष्ट क्या है? किसी पदार्थ से कष्ट नहीं आता। हम भीतर में कल्पनायें बनाते हैं और कष्ट का अनुभव करते हैं। बाहर में कोई कष्ट नहीं है। कोई लखपति होकर भी संतोष नहीं कर रहा और अनेक कष्ट मान रहा। अभी मेरा यह काम अधूरा

पड़ा, अभी इसके बिना क्या जिन्दगी? अभी तो यह काम हुआ ही नहीं,...और एक कोई १००-५० रुपये की पूँजी वाला खाने के सामान का खोमचा फेरने वाला अपने सिर पर खोमचा रखकर यत्र-तत्र खोमचा लगाता फिरता है, वह हर जगह खुश रहता है, गाना भी गाता है। तो बाहर से कोई सुख दुःख का हिसाब है क्या? सब अपने ज्ञान के अनुसार है। अपने ज्ञान को विशुद्ध बनावें। शुद्ध चैतन्यमात्र अपने आपको निरखने का पौरुष करें। यह ही विवेक की बात है इस जीवन में। और जो कुछ समागम पाया है वह सारा का सारा न्योछावर, समर्पण, उत्सर्ग, बलिदान, होम, परित्याग, सब कुछ करना पड़े और इस सहज स्वरूप का दर्शन मिलता है, तो यों समझो कि हमने कुछ भी नहीं खर्च किया, न कह उठाया, सहज मिल गया। बाहरी पदार्थ आखिर मिटने ही हैं। कब तक जियेंगे, कब तक रहेगा समागम? ज्यों-ज्यों समय गुजर रहा है त्यों त्यों मरण के निकट पहुंच रहे हैं और जो वियोग होना है उस काल के सम्मुख आ रहे हैं। उसकी चिन्ता छोड़ें। वर्तमान परिणाम के सुधार में आवो। भाव सुधारा तो सब सुधारा, भाव बिगाड़ा तो सब बिगाड़ा। यह भव भी, परभव भी। दुनिया में दिखने वाले स्वच्छन्द पुरुषों की होड़ मत करो। होते हैं कुछ लोग कि जिनके पूर्वकृत पुण्य का उदय है, यहाँ बड़े मौज के समागम में हैं, और मनमाना पापकार्य करते हैं। संसार विचित्रतामय है, हमें उनकी होड़ नहीं करना है। अपन तो अपना प्रोग्राम बनावें कि हमें संसार में नहीं रहना है। मुक्त होना है, यह मन में ज्ञान में एक निर्णय बना लें। एक ही काम है मेरा। संसार में नहीं रहना है, मुक्त होना है। एक ध्येय बन जाये तो सब बात आसान हो जाती है। न किसी का विसम्बाद रहेगा, न किसी की अटक रहेगी। स्वभावदर्शन और स्वभावमन्ता रहे। ऐसा मैं शुद्ध चेतन हूँ।

(६) शुद्ध चिदानुभूति में परमार्थ आत्मसेवा—ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि। शुद्ध के लिए नमस्कार हो और यह मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। देखो संसार में कोई किसी का कारण नहीं। कोई सोचे कि यह मेरा पुत्र है, यह बड़ा होगा, सुख देगा, आराम देगा। तो क्या आपको यह पूरा निर्णय है कि यह बड़ा होकर सुख ही देगा? अरे कहो ऐसा हो जाये कि आपको कहीं यह कहना पड़े कि इससे तो यह न होता तो अच्छा था। क्या है कुछ निर्णय आज? ऐसे-ऐसे लोग भी देखने में आते हैं कि लड़का मां को सताता, स्त्री का पक्ष लेता, मां को अलग कर देता, कुछ परवाह नहीं करता, गालियां भी देता। और मानो कमाकर खिलाये पिलाये भी तो भी उसने अपने मात्र विनय व्यवहार से दिया सो बात नहीं। आपकी सज्जनता भी है। आपका कुछ प्रभाव भी है, आपने कुछ मकान बैगरह अपने नाम भी कर रखा होगा। ऐसी अनेक बातें हैं सो वह पूछता है। प्रथम बात तो यह है कि पुण्य आपने कमाया उसका उदय है, उससे पूछता है। कोई किसी का शरण नहीं है। अपना शरण है तो अपना निर्मल परिणाम शरण है। परिणाम की मलिनता न हो तो कोई बाधा नहीं है। हम कुमार्ग पर चलें तो हम अपने आप अपने को बरबाद कर लेते हैं। प्रभुभक्ति और अपने आपके स्वरूप का ध्यान ये दो बातें ही हम आपको शरण हैं। इसी को मंगल, लोकोत्तम, शरणभूत कहा गया है। इस ओर ध्यान देना है, इस ओर अपने आपका उपयोग बनाना है। मैं सबसे निराला हूँ, देह से भी भिन्न केवल ज्ञानप्रकाश मात्र हूँ। जहाँ सबसे निराले ज्ञानज्योति के दर्शन कर लिया

वहाँ सर्व ऋद्धि सिद्धि प्राप्त है। जहाँ इच्छा नहीं तहा सर्वसिद्धि है और जहाँ इच्छा है वहाँ सारी विपत्ति है। तो कुछ क्षण अपनी दया में भी बिताना चाहिये। नौकरी तो सबकी करना ही पड़ती है। पुत्र के पुण्य का उदय है तो पुत्र की नौकरी करनी पड़ती है। जिन जिनके पुण्य का उदय है उनकी सेवा करनी पड़ती है। करें सेवा, गृहस्थी है, मगर रात दिन के चौबीसों घंटों में कोई समय ऐसा भी रखें जहाँ मात्र अपनी सेवा करें। अपने को ज्ञानस्वरूप में निरखें, यह ही अपनी वास्तविक सेवा है।

(७) शरण्य का अन्वेषण—हम आप वर्तमान में अशुद्ध अवस्था में गुजर रहे हैं। और इसी कारण दुःखी रहते हैं। जो ठौर है, धाम है सुखी होने का उस जगह फिट नहीं हो पाते। तो आवश्यकता है कि हमारी अशुद्ध परिणति मिटे और शुद्ध परिणति बने। इस सम्बंध में विचारणीय विषय यह है कि हमारी शुद्ध परिणति कैसे बनेगी? किसका सहारा लेने से बनेगी। इस जीव में पुरातन आदत है कि किसी न किसी का हमेशा सहारा लिए रहते हैं। कहीं सहज सहारा है तो कहीं जान बूझकर सहारा हो पाता है या नहीं यह अन्य बात है मगर प्रकृति है ऐसी कि वह सहारा लिए रहे। यहां विचार करो किसका सहारा लें तो शुद्ध परिणति बने? जहाँ दोष न रहें और गुण प्रकट हों उसे कहते हैं शुद्ध परिणति। तो किसी अशुद्ध तत्त्व का आश्रय लेने से परिणति तो शुद्ध न बनेगी, क्योंकि ऐसा तो अनादि से करते चले आये कि हम अशुद्ध का आश्रय लेते। जब जो पर्याय पाया उसे माना कि यह मैं हूँ। जब जो गुण की स्थिति हुई उसी में माना कि यह मैं हूँ। इस तरह अशुद्ध तत्त्व का आश्रय हम अनादि से करते चले आये। अशुद्ध का अर्थ क्या है? जिसे बताया था कि वस्तु में दूसरी वस्तु मिलाया या वस्तु के निज की बात कुछ निकालकर फेंकी और फिर जो बताया जाये उसे अशुद्ध कहते हैं। क्रोधी हूँ, मानी, मायावी, लोभी हूँ, मनुष्य, तिर्यञ्च आदिक हूँ, व्यापारी, श्रीमान, राजा आदिक रूप से अपने को मानना वह अशुद्ध का आश्रय है। और कभी इस रूप में देखने का यत्न किया, यह चर्चा की कि आत्मा में अनन्त गुण भरे पड़े हैं, ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, सब गुणों का वह पिण्ड है, समुदाय है। यद्यपि यह चर्चा शुद्ध तत्त्व को पहिचानने के लिए की गई है। केवल आत्मा ही आत्मा कोई कहे तो क्या परिचय होगा? तो शुद्ध आत्म तत्त्व के परिचय के लिए गुणों का वर्णन है। लेकिन कोई यों भी तकता रहे कि हाँ जैसे बोरे में गेहूं भरे हैं, चने भरे हैं ऐसे ही आत्मा में अनन्त गुण भरे हैं, तो उसने मूलभूत आत्मा को तो नहीं पहिचाना। तो गुण तो समझाने के लिए प्रतिनिधिरूप में पेश किए जाते हैं। इससे निराला कुछ नहीं है। तो भेद एकान्त किया, पर्याय एकान्त में देखा तो किसी भी रूप में अशुद्ध तत्त्व का हम सहारा लिए आये, उससे तो कल्याण की बात न बनेगी। तो खुद में तो हम अशुद्ध हैं तो उसके सहारे से कैसे परिणति शुद्ध बने? बाहर में प्रभु का ध्यान है। प्रभु तो शुद्ध हैं, लेकिन उनका तो हम सहारा ले कैसे सकते? हम यहाँ बैठे हैं? और परवस्तु होने के कारण हम आलम्बन तो नहीं कर सकते। ज्ञान के विषयभूत हो गए, पर ऐसा आलम्बन मिला कि उस आलम्ब्य पदार्थ से मेरे में परिणति जागृत हुई, ऐसा तो कोई परपदार्थ होता नहीं। तो पर के आलम्बन से अशुद्धता नहीं, खुद अशुद्ध बना हुआ है। तो शुद्ध पर्याय प्रकट होने का उपाय क्या रहा? उसका उपाय जैन शासन में बताया है कि पर्यायमात्र का ही आलम्बन छोड़ दें और

अपने में शाश्वत अन्तः प्रकाशमान आनन्दधाम अहेतुक सहज निरपेक्ष जो स्वभाव है उस स्वभाव की दृष्टि करें। इसी स्वभाव का नाम है भूतार्थ ।

(८) स्वरूपपरिचय में भूतार्थपद्धति की उपयोगिता—भूतार्थ अनेक नहीं होता, तब ७ तत्त्वों के रूप में जो देखा है वह भूतार्थ नहीं । भूतार्थ कहते हैं स्वयं सहज अपने आप होने वाला अर्थ । भाव तो ऐसा ही है चैतन्यस्वरूप । इस चैतन्यस्वरूप को समझाने के लिए महर्षि संतों ने ७ तत्त्व ९ पदार्थों का प्रतिपादन किया है । यह अभेद को समझाने के लिए भेद द्वारा परिचय कराने का प्रयत्न किया है, इस कारण यह भेद अटपट नहीं है, अनुरूप भेद है । एक तो होता है काल्पनिक और एक होता है अनुरूप प्रतिपादन । तो ९ तत्त्वों द्वारा हम समझते हैं । उन ९ तत्त्वों का जब भूतार्थ शैली से अधिगम होता है तो वे सम्यक्त्व के कारण होते हैं । भूतार्थ शैली से अधिगम का अर्थ यह है कि इस प्रकार जानना कि जिस प्रकार भेद से हटकर अभेद में पहुंचा जाये । जैसे जीव तत्त्व को ही देखा । जो ७ तत्त्वों में जीव नाम है वह भेदरूप जीव है । अखण्ड अभेदरूप नहीं । तो जीव में जो कुछ जाना, गति इन्द्रिय जाति में सबको भूतार्थ शैली से जानने लगो । और भूतार्थ की शैली से जानने की पद्धति यह है कि यह किससे प्रकट हुआ है? उसको जानो । इस प्रश्न के उत्तर में क्या होगा कि जिसकी बात कर रहे हैं वह गौण हो जायेगा और बीजभूत तत्त्व मुख्य हो जायेगा । जैसे किसी बालक का जब हम परिचय करते हैं तो पहिले उसका नाम पूछते हैं । क्या नाम है? बता देता है । यह तो बालक का बालकरूप से परिचय बना और जिस वक्त पूछते हैं कि बताओ तुम किसके लड़के हो? तो उस समय बालक गौण हो जाता है और किसके, इस प्रश्न में जो ज्ञेय है वह मुख्य हो जाता है । तो ऐसे ही जीव जाति, जीव गति ही जीव की परिणतियां इन्हें जाना, वे तो जीव तत्त्व में रहेंगी और जब यह समझाने की कोशिश की ये सब किससे प्रकट हुए? इसका मूल स्रोत क्या है? बस भूतार्थ पद्धति बन जायेगी । वह है चैतन्यस्वरूप जिससे प्रकट हुआ है वह है एक रूप, जिससे अनेकता जगी है । इसके सम्बन्ध में कुछ लोग कहते हैं कि—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णात्पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अर्थात् यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण निकलता है । पूर्ण से पूर्ण निकलते रहने पर भी यह पूर्ण ही अवशेष रहता है, तो वह मूल पूर्ण क्या है? प्रति समय में जो पर्याय उत्पन्न होती है वह पूर्ण होती है । किसी भी समय की कोई भी परिणति यह प्रश्न नहीं कर सकती हम अधूरे बन पाये, हमें पूरा बन लेने दो ऐसी कोई परिणति नहीं होती । यह सत् है तो प्रति समय में जो अवस्था है वह पूर्ण है । खोटा हो, अच्छा हो, कुछ भी हो, आधे हम बन पाये, आधे बनना हमारा शेष है, ऐसा किसी भी परिणति में प्रश्न नहीं होता । भले ही छद्मस्थ अवस्था अन्तर्मुहूर्त हम जान पाते हैं कि यह अमुक चीज है । जान पाये, जानने में बात तो आयी ऐसी पर होने में, निर्माण में अन्तर्मुहूर्त नहीं लगता । जो राग अनुभव में आता है वह अन्तर्मुहूर्त का

आता है। इसके मायने यह नहीं है कि कोई राग अन्तर्मुहूर्त में पूरा बनता है। प्रति समय पर्याय पूर्ण होती है, एक समय का राग अनुभव के योग्य नहीं होता, प्रति समय पूर्ण-पूर्ण पर अनुभव में आता है अन्तर्मुहूर्त का पर्याय। तो यों कहा कि जानना शुरू हुआ और बना, इतने में ही अन्तर्मुहूर्त लग जाता है, लगो, फिर भी प्रतिसमय में पूर्ण बनता है परिणमन और पूरा ही है यह स्वभाव वस्तु और पूर्ण-पूर्ण बनता रहता है प्रतिसमय और पूर्ण निकलता रहने पर भी यह परमार्थ, यह स्रोत, यह पूर्ण का पूर्ण ही विराजा रहता है। तो अब प्रश्न हुआ कि ये सब किससे आविर्भूत हुए? तो भूतार्थनय की पद्धति बन जाती है। यों भूतार्थविधि से जीवतत्त्व का परिचय का हुआ अखंड ज्ञायकस्वरूप है।

(९) अजीवादि तत्त्वों को भूतार्थविधि से जानने की उपयोगिता—अजीवतत्त्व में कर्म है। कर्म परिणति है। जो भी प्राप्त हो कर्म में उसके प्रति भी भूतार्थपद्धति से प्रश्न होता हो तो वहाँ भी एकत्व में आयेंगे। जैन शासन का तत्त्वज्ञान विलक्षण अद्भुत उद्यान है। जीव में ही होने वाली परिणतियां भी अजीव हैं। उनमें भी प्रश्न हो जाता है और भूतार्थ शैली बनेगी। तो ये ७ तत्त्व जब भूतार्थ से जाने जाते हैं तो ये एकत्व पर पहुंचा देते हैं। आस्रव कहीं एक से नहीं होते। निरपेक्ष होकर एक ही पदार्थ अपने में आस्रव पर्याय करें सो नहीं होता। हुआ संयोग में, पर वह आस्रव संयोग दशा ऐसी है कि दोनों में ही आस्रव हो रहा, परस्पर अपेक्षा रख रहे, पर परिणमन दोनों में पृथक-पृथक हो रहा। कर्म वर्गणाओं में कर्मत्व आना कर्म का आस्रव है और इस जीवस्वभाव में विभाव का आना जीव का आस्रव है। तो जीवास्रव का प्रश्न करें। यह किससे आविर्भूत हुआ? आखिर किसी मनुष्य को देखकर जो अपना सम्बंधित हो, एक बार प्रश्न उठ ही जाता है कि यह कहा से आया? और ऐसी जानकारी हुए बिना कुछ चैन सी नहीं पड़ती। तो यहाँ जो आया है विभाव उसकी भी जानकारी करें। कहाँ से आया है? परमार्थतः किस स्रोत से आया जीव का विभाव याने उपयोग का उस रूप परिणमन, जैसे कर्म दशा का रंग इस उपयोग भूमि में झलका है उसके अनुरूप उपयोग का वर्तना, विकल्प होना यह ही तो आस्रव है। वह आस्रव, वह विकल्प कहाँ से आया? उसका जनक कौन है? उस स्रोत का पता लगाओ। वह स्रोत है यह एक भाव, यह जीवत्व। ऐसे ही कर्मत्व में है, बंध में ऐसा ही है, संवर होने में निर्जरा भाव में और मोक्षतत्त्व में ऐसा ही है। जब भूतार्थ पद्धति से यह जाना जाता है तो यह एकत्व का परिचय करता है और उस एकत्व के परिचय में सम्यक्त्व का अवसर होता है।

(१०) निराकुल शुद्ध चैतन्य का दर्शन—शुद्ध तत्त्व की बात चल रही थी कि किसका आश्रय करें तो शुद्ध परिणति हो? पर के आश्रय से तो शुद्धता होती नहीं, खुद अशुद्ध पर्याय में है, उसके आश्रय में शुद्धता होती नहीं, किन्तु अपने आपमें शाश्वत प्रकाश मान जो स्वभाव है वह शुद्ध है, स्वभाव शुद्ध है। न प्रकट हो तो शुद्ध है, प्रकट हो तो शुद्ध है। उस शुद्ध का अर्थ इतना ही है कि पर से विविक्त और स्वयं में तन्मय—‘जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम। राग त्यागि पहुंचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।’ ये जिसके नाम बोले गये उस आत्मा में राग त्याग कर हमें पहुंचना है, कहाँ पहुंचना है? एकत्व निजधाम में। मैं राग छोड़कर उस निज धाम में पहुंचू जिस धाम के ये सब नाम हैं—जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा

राम, विष्णु, बुद्ध, हरि आदि। जो रागादिक को जीते सो जिन, ऐसा कौन?...यह ही स्वभाव। जो कल्याणमय हो सो शिव, वह कौन?...यह ही स्वभाव। जो अपने ऐश्वर्य में पूर्ण समर्थ हो सो ईश्वर। वह कौन? यह चित्स्वभाव। जो अपनी सृष्टि को करता रहे सो ब्रह्मा, वह कौन? यह चित्स्वभाव। जिसमें योगीजन रमण करते हैं, तृप्त होते हैं, सो राम वह कौन? यह चित्स्वभाव। जिसका प्रताप बड़ा व्यापक है, जिसका सर्वत्र प्रसार है वह विष्णु। वह कौन? यह चित्स्वभाव। जो सूक्ष्म से सूक्ष्म परतर हो तभी वह व्यापक बन सकता है। बड़ी चीज, मोटी चीज, व्यापक नहीं बन सकती, स्थूल कभी बड़ा दायरा नहीं रखती। जो सूक्ष्म है उसी का दायरा बड़ा होता है। सूक्ष्म का ही क्षेत्र व्यापक होता है, स्थूल का क्षेत्र व्यापक नहीं होता। पृथ्वी व्यापक नहीं। इस जगह वैज्ञानिक ढंग से और आपके मध्य लोक के नक्शा के ढंग से खूब परख लिया जायेगा कि पृथ्वी स्थूल है और जल उससे सूक्ष्म है, तो जल का हिस्सा अधिक है, पृथ्वी का हिस्सा कम है। उसका दायरा नहीं कर सकता। और, जल का दायरा इस मध्य लोक में इतना बड़ा है कि जिसके सामने शायद चौथा अंश भी यह पृथ्वी न हो। असंख्याते द्वीप समुद्रों में एक स्वयंभूरमणसमुद्र का ही विस्तार इतना बड़ा है कि सारे द्वीप समुद्र का विस्तार मिलाकर भी उतना बड़ा नहीं है और जो बाकी द्वीप हैं उनको मिला दो तो सारे द्वीप मिलाकर कह सकते हैं कि समस्त जल भाग के चौथाई हिस्सा भी यह पृथ्वी नहीं है। जल की अपेक्षा वायु सूक्ष्म है। तो जल उतना व्यापक नहीं जितनी कि वायु। जहाँ जल है वहाँ भी हवा है और जहाँ जल नहीं वहाँ भी हवा है। पृथ्वी में भी हवा है, पृथ्वी से बाहर भी हवा है, और हवा से सूक्ष्म है आकाश। हवा भी उतनी व्यापक नहीं जितना कि आकाश। भले ही यह हवा तीनों लोकों को घेरकर गर्व के साथ चारों तरफ अपना प्रताप फैलाये हुए हैं—तनुवातवलय है, घनोदधि वातवलय, घनवातवलय। तिस पर भी वह आकाश की होड़ नहीं कर सकता। उससे बाहर भी आकाश है जिसे अलोकाकाश कहते हैं। और आकाश से सूक्ष्म है ज्ञान। तो यह ज्ञान सारे लोक में भी फैला, अलोक में भी फैला और फिर भी इसकी स्प्रिंग इतनी मजबूत है कि यह भूखा ही रहता है। इतना लोकालोक का ज्ञान कर लेने पर भी इसकी भूख नहीं मिटती अर्थात् ऐसे ही अनेक लोकालोक होते तो वे भी सब ज्ञान में आ जाते। ज्ञान के कुछ अविभाग प्रतिच्छेदों ने इतना काम कर डाला, ऐसा विष्णु यह ज्ञान है। बुद्ध जो ज्ञानमय हो सो बुद्ध वह है आत्मा। हरि—जो पापों को हरे सो हरि, वह है आत्मा। आत्मा ही देवता है, आत्मस्वभाव में मग्न होने पर आकुलता नहीं रहती।

(११) प्रभु को निरखकर शुद्ध चैतन्यस्वरूप को निरखने में प्रभुभक्ति की सफलता—प्रभुस्वरूप को निरखने का प्रयोजन है परमात्मतत्त्व का दर्शन। पर्यायशुद्ध चेतन का परिणमन है स्वभाव के अनुरूप, क्योंकि वह परिणमन है स्वप्रत्ययक। ऐसे शुद्ध आत्मा को निरखने पर चैतन्यस्वभाव का परिचय होना बहुत सुगम है। परमात्मा का वास्तविक परिचय होने से आत्मतत्त्व का परिचय होता है, ऐसे ही आत्मतत्त्व का परिचय होने पर परमात्मा के स्वरूप का परिचय होता है। परमात्मा का अभिवंदन और आत्मतत्त्व की उपासना ये दोनों स्थितियां होती रहें एतदर्थ ‘ॐ नमः शुद्धाय ॐ शुद्धं चिदस्मि’ ऐसी वंदना बनायें। यह तो है

परमात्मस्मरणपूर्वक आत्मस्मरण की बात । अब शुद्ध अंतस्तत्त्व का स्वरूप पहिचानकर अपने आपको शुद्ध अंतस्तत्त्वरूप भावित करके अपने को शुद्ध चिन्मात्र अनुभवने के पौरुष में ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि ऐसी उपासना बनायें ।

मैं ज्ञानमात्र हूँ, मेरे स्वरूप में अन्य का प्रवेश नहीं, अतः निर्भार हूँ ।

(१२) ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व की निरख में क्लेश का अभाव—मैं ज्ञानमात्र हूँ, इसका जितना अधिक मनन और इसरूप अपने ज्ञान का भवन होगा वही मोक्षमार्ग है, वही शान्ति का उपाय है, वही समाधि का मार्ग है । मैं ज्ञानमात्र हूँ । मात्र का अर्थ है सिर्फ, सिर्फ यही यही, अन्य कुछ नहीं । ज्ञान ज्ञान ही मैं हूँ । आत्मा आकाश की तरह अमूर्त है, निर्लेप है । इसमें किसी पर का संयोग नहीं । ऐसा होने पर भी आज जो दशा यह दिख रही है कि संयोग में पड़ा, शरीर से बाहर निकलकर बैठ नहीं सकता, परतंत्र है, बन्धन है, दुःख है, ये सब किस प्रकार हुए? तो जैसे एक तो होता है बन्धन और एक होता है खुद बंध जाना । तो पर की ओर से तो इसका बन्धन नहीं है, परतंत्रता नहीं है, क्योंकि यह अमूर्त है । अमूर्त अमूर्त को बाँध नहीं सकता, अमूर्त को मूर्त बाँध नहीं सकता । जैसे आकाश को कोई अमूर्त द्रव्य नहीं बांधता और मूर्त भी नहीं बांधता । तो कोई परपदार्थ मेरे आत्मा को बाँधता नहीं, किन्तु यह मैं अज्ञानवश पर में रमकर, पर का स्नेह रखकर बंध जाता हूँ । यह ही आत्मा परदृष्टि करके बंध गया है । अब प्रश्न यहाँ भी होगा कि ऐसा अपने आप जीव क्यों बंध गया? जब यह स्वरूपतः अद्वैत है अपना आत्मा है तो अपनी मर्जी से भी क्यों बँध गया । क्यों मर्जी की ऐसी? तो उत्तर तो आना ही पड़ेगा कि यह निमित्तनैमित्तिक योग की बात है । अब इन सारे दंदफंदों से छूटने का उपाय क्या है? किसी परपदार्थ का अनुग्रह करें, निग्रह करें, बिगाड़ सुधार करें, आश्रय लें, ये दुःख छूटने के उपाय नहीं हैं । केवल एक ही उपाय है दुःख से छुटकारा पाने का कि मैं अपने को यह समझ लूँ कि मैं ज्ञानमात्र हूँ । प्रयोग करके भी देखो । जब यह समझ रहे हों कि मैं मनुष्य हूँ, अमुक हूँ, अमुक नाम का हूँ, ऐसी पोजीशन का हूँ तो उसके अनुरूप विकल्प होते और इसको दुःखी होना पड़ता, और समझ जाये कि मैं तो ज्ञान ज्ञानमात्र । जैसा मैं हूँ वैसे सब हैं, जैसा सबका स्वरूप है वैसा ही मेरा स्वरूप है । ऐसा जब ज्ञान में आता है तो चूंकि विशेषता न आयी, सर्व समता हुई, वहाँ क्लेश का नाम नहीं रहता । मुक्ति पाना एक सर्वोत्कृष्ट वैभव है, किन्तु मुक्ति का पाना यों मोह के ढंगों से न होगा । जिसने अपने श्रद्धा बल से समस्त परपदार्थों से उपेक्षा कर लिया जिसे कहेंगे कि परमाणुमात्र भी राग न रहा, ऐसा एक आन्तरिक प्रयत्न कर लिया तो मुक्ति का मार्ग मिलेगा । उसमें एक ही निर्णय है । कुछ यह भी करें, कुछ वह भी करें, कुछ स्वाध्याय भी करें, कुछ बच्चों से मौज भी रखें, ऐसी सब तरह की बातों से मार्ग न मिलेगा । उसके लिए निर्णय एक ही है—सब से कटकर ही रहना । अपने को विविक्त ही रखना, अपने को ज्ञानमात्र निरखना, सबसे निराला देखने का प्रतीक है ज्ञानमात्र निरखना । केवल ज्ञान ज्ञान ही मैं हूँ, ज्ञान सिवाय मैं और कुछ नहीं । ऐसे अनुभव में, ऐसी बुद्धि में सर्व इच्छायें दूर हो जाती हैं । मैं ज्ञान ज्ञान ही हूँ, ज्ञान

सिवाय और कुछ कर सकता नहीं, ज्ञान सिवाय कुछ भोग सकता नहीं, ज्ञान को छोड़कर रह सकता नहीं। ज्ञान ही ज्ञान मेरा स्वरूप है। ज्ञान ही वैभव है, ऐसा अपने को मात्र ज्ञान ज्ञान रूप ही निरखने में आये तो उसकी सर्व प्रवृत्तियों में अंतर आ जाता है और एक यह ही कला न हो पायी तो बाकी जितनी कलायें हैं वे सब बेकार हैं।

(१३) एकत्वविभक्त ज्ञानस्वरूप के अवधारण की महिमा—इस ज्ञानमात्र अनुभव का किन्हीं दार्शनिकों ने आनन्दानुभव नाम दिया, किन्हीं दार्शनिकों ने मात्र विज्ञान नाम दिया, और किन्हीं दार्शनिकों ने शून्य नाम दिया। यद्यपि यह अनुभवशून्य नहीं है, लेकिन इसमें रागद्वेष विकल्प आदिक रंच नहीं, जिनसे कि अपने को सम्पन्न समझता था वह कुछ नहीं, उनसे शून्य हो गया है। और जो कुछ है वह बताने में नहीं आता, अतएव उनकी दृष्टि में शून्य ही रहा। जिसने मात्र विज्ञान माना ज्ञानाद्वैत उन्होंने आत्मा का जो एक असाधारण गुण है उसका ऐसा एकान्त किया कि एक तत्त्व ही ऐसा गढ़ दिया। और कुछ नहीं, पुद्गल नहीं, भौतिक नहीं, भींत नहीं, लोग नहीं, गुरु नहीं, शिष्य नहीं, यह तो एक भ्रम का ख्याल है। ज्ञान ही ज्ञान है। जैसे स्वप्न में सारी चीज़ समझ में आती है, लेकिन है कुछ नहीं, इसी तरह ज्ञानतत्त्व से भ्रष्ट होने पर ये सारी चीजें समझ में आती हैं, और है कुछ नहीं। इतने एकान्त में चलें, पर जैनसिद्धान्त यह बताता है कि ज्ञान अज्ञान स्व पर अच्छा खोटा चेतन अचेतन सबको ठीक समझ लें। एक इस डर की वजह से कि हम अचेतन को मानेंगे तो हम इस चैतन्यस्वरूप की अनुभूति में न आ सकेंगे ऐसा डर मत करें। बजाये डरने के स्वरूप सत्त्व समझें जिससे कि उपेक्षा हो जाये। समस्त पर की उपेक्षा करें। अपने आपको निरखें कि मैं ज्ञानमात्र हूँ बड़ी समस्यायें सामने हैं। शरीर को मच्छर काटे तो ज्ञानमात्र हूँ यह वातावरण बिगड़ जाता है। उस मच्छर पर दृष्टि जाती है। तेज भूख लगती तो ज्ञानमात्र को कहीं धर देते हैं। वेदना सही नहीं जाती है। है स्थिति ऐसी, लेकिन यहाँ भी तो अंतर देखा जाता है। कोई मच्छर से बहुत डरता है कोई कुछ मच्छरों से नहीं डरता। किसी को भूख भी मानो थोड़ी-सी हो तो उसी को बड़ा रूप देकर परेशान होते हैं प्रयत्न करते हैं और कोई बहुत भूखा रहने पर भी समता से रहता है। तो यह अंतर यह प्रमाणित करता है कि जिसकी जितनी अधिक ज्ञानदृष्टि है शरीर को पर मानकर शरीर से उपेक्षा है उसमें ये अंतर आ गए। यदि बन जाती ऐसी दृष्टि और मंदता कि इस ज्ञानोपयोग को मात्र ज्ञानस्वरूप ही रहना तो शरीर को गीदड़ी भी चीथे, सिंह भी खाये तो भी उसका भान नहीं होता। अपराध तो अपना है कि इस शरीर में आत्मबुद्धि बनायी या कुछ ज्ञानदृढ़ता में शिथिलता लायी तो अपने आप ही दुःख होगा।

(१४) दुःख से छुटकारा पाने का उपाय ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व का अनुभव—दुःख से मुक्त होने का उपाय यह आराम नहीं, ये संसार के क्षणिक सुख नहीं, पंचेन्द्रिय के विषय नहीं, मान का विषय नहीं, कीर्तियश प्रतिष्ठा आदिक ये सब दुःखों से छूटने का उपाय नहीं, यह सब कहलाता है उपाधि। मोह में लोग उपाधि को तरसते हैं और उपाधि शब्द सुनकर, अपने में उपाधि लगाकर खुश होते, लेकिन उपाधि क्लेश नाम को सार्थक करने वाली है। उपाधि का अर्थ है—उप आधि, आधे: समीप इति उपाधि, आधि मायने मानसिक

क्लेश । मानसिक क्लेश का जो प्रतिनिधित्व करे उसका नाम है उपाधि । जो भी परतत्त्व है, अनात्मतत्त्व है वह सब उपाधि है । उसका लगाव कष्ट का ही हेतुभूत है । तो जिसने अपने भीतर इतनी दृढ़ता कर ली हो कि समस्त अनात्मतत्त्वों से मेरा कटाव है । मैं ज्ञानमात्र हूँ, अन्य जीवों की दृष्टि में वह पागल है, क्योंकि दुनिया के लोगों से उसका मेल खाता नहीं, ऐसा देखकर भी कुछ विकल्प न लायें । कोई न पूछे तो मत पूछो, मुझे मोहियों की सुमारी में नहीं रहना है, मुझे तो प्रभु की सुमारी में आना है । यहाँ से तो नाम कटाना है । संसारी गुट में से हमको नाम कटाना है और परमात्मा के गुट में अपना नाम लिखाना है । तो जिससे नाम कटाना है उसमें मोह हो, राग हो, लगाव हो तो ये तो कटाने के लक्षण नहीं । किसी संस्था के उद्देश्य का पूरा पालन करें तो उस संस्था से नाम कैसे कटेगा? यह संसार मोह संस्था है और इसका उद्देश्य है कि परपदार्थ में मोह राग द्वेष करना, इन्द्रिय के विषयों में प्रीति करना यश कीर्ति मनोज्ञ विषयों को बढ़ावा देना यह इसका कार्य है, उद्देश्य है । और इसके मेम्बर हैं अनगिनते जीव । अब इस संसार संस्था में उद्देश्यों का इस ईमानदारी से पालन करते रहें और चाहें कि यहाँ से नाम कट जाये तो कैसे कट सकता है? उल्टे चलें तो नाम कटेगा, नहीं तो न कटेगा । इस संसारसंस्था के जो उद्देश्य हैं उनका उल्लंघन करें, ये मेम्बर फिर न चाहेंगे उसे । यह तो हमारे ढंग से रहता ही नहीं, और उसको पागल कहेंगे, ऐसा कटाव कर सकने की हिम्मत है तो मोक्षमार्ग पर नाम लग जाये । और इतना कटाव करने की हिम्मत नहीं है श्रद्धा में तो मोक्षमार्ग का नाम मत लीजिए नहीं तो ये संसारी मेम्बर रुष्ट हो जायेंगे तो घर में रहना भी कठिन होगा और बाहर कुछ मिल नहीं रहा । तो मुक्तिमार्ग में लगने के लिए श्रद्धा में पूर्ण रूप से कटाव होना चाहिए था कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, अन्य रूप हूँ ही नहीं, यह स्वाधीन काम है । इसमें कोई दूसरी बाधा डाल सकने वाला नहीं है । मान लो कमज़ोरी है, घर में रहना पड़ता है, पिता ने या किसी ने जबरदस्ती की कि तुमको यहाँ ही बैठना होगा, तुमको यह ही काम करना पड़ेगा, बैठे हैं, कर रहे हैं, तो इस श्रद्धा में कोई जबरदस्ती नहीं कर सकता कि तुमको यह श्रद्धा करनी होगी । इस पर किसी का जोर नहीं । परिस्थितियाँ अन्य बातों में विवश करें, पर श्रद्धा हटाने के लिए कोई परिस्थिति विवश नहीं कर सकती । खुद में ऊधम मचावें तो यह श्रद्धा से बिगड़ेगा । दूसरा कोई इसकी श्रद्धा को नहीं बिगाड़ सकता ।

(१५) देह की अशुचिता के ध्यान का अन्तस्तत्त्व के दर्शन की दिशा में सहयोग—भैया ! अब अन्तस्तत्त्व का करिये अनुभव । श्रद्धा बनाओ कि मैं ज्ञानमात्र हूँ । ऐसी श्रद्धा बनाने के लिए एक यह भी उपाय करिये कि इस शरीर का सही दृश्य ध्यान में लायें । सबसे अधिक ममता जीव को शरीर से होती है । और शरीर की ममता के आधार पर ही वस्तुओं में ममता होती है । तो देह में ममता न रहे, यह देह न रुचे । इसके लिए कुछ देह का ऊपरी रूप भी देखिये । इस मनुष्य को शृङ्खार की क्यों जरूरत पड़ी? पशु आदि जीवों को देह के शृङ्खार की कुछ आवश्यकता नहीं देखी जाती । जो जैसा है वैसा है । यहाँ जो व्यग्रता लग रही है, इसका कारण है कि यहाँ द्वन्द्व मचा है । शरीर तो अपवित्रता के लिए होड़ कर रहा है और यह जीव शरीर के प्रति राग के लिए होड़ कर रहा है । इन दो में होड़ मच गई । जीव इस शरीर से राग करने में बढ़ना

चाहता और शरीर अपवित्रता में बढ़ रहा, तो इस अपवित्रता को ओझल करने के लिए इस जीव ने उपाय निकाला शृङ्गार । जिससे कि कुछ थोड़ा नजर से तो हट जाये इसकी अपवित्रता । मुख में क्या भरा, नाक में क्या भरा, इस देह में क्या भरा? पर यह बात, ये अशुचिता की बातें ध्यान में न रहें और यह ठीक जंचने लगे तो नाक में कोई लड़ी पहिन ली, दो मोती के दाने लगा दिये तो चमकती तो यह मोती है, नाक नहीं चमकती, पर वे अपवित्र चीजें ध्यान में न रहें तो इस अचेतन की कृपा से इस शरीर की भी कुछ शोभा जंचने लगी । यह उद्यम किया गया । बढ़िया-बढ़िया चमकीले वस्त्र पहिनना, शरीर में चमकीलापन नहीं है, वस्त्र में चमकीलापन है, वस्त्र के रंग चमचमाहट इनसे शरीर की अशुचिता का ध्यान बदल जाये और ये भी चमकीले जंचने लगें, यह ही तो उद्यम है । शरीर में क्या रखा ? भीतर में निहारो, हड्डी, मांस, मज्जा, खून, चमड़ी और उसके ऊपर वे रोम । अब ये रोम कहां हटायें । खून का विकार है बाल, इन्हें कहां हटायें ? तो इसका तो कोई उपाय है नहीं तो इन दोनों ने उपाय बना लिया स्त्री पुरुषों ने कि चलो और उपाय तो बनता नहीं इस शृङ्गार से कुछ मन भर लेंगे, इस देह की अपवित्रता का उपयोग बदल जायेगा, लो यह शृङ्गार तो धोखा हो गया ।

(१६) मोह की अपवित्रता का प्रभाव—देखो शरीर की सच्चाई दृष्टि में लो । जिस शरीर में हम रह रहे उसकी भी सच्चाई देखो जो शरीर दिख रहे हैं उनकी भी सच्चाई देखो । इस शरीर में जीव के संबंध बिना अशुचिता कुछ नहीं । अचेतन है, जड़ है, अपवित्र है, अशुचि है, और इस शरीर को मानो गाली दो चाहे यह शरीर अपवित्र है, लेकिन अपने आप खराब नहीं, आहार वर्गणाओं से ही तो शरीर बना, अचेतन कोई अपवित्र नहीं । इन आहार वर्गणाओं को इस मोही जीव ने ग्रहण किया, तो इन पवित्र वर्गणाओं का जिनमें मांस नहीं, इन आहार वर्गणाओं को अपवित्र किया गया है । अगर कोई ढंग का न्यायालय होता, शरीर और जीव इन दोनों का मुकदमा चलता तो अपराध जीव का ही माना जाता । दण्ड जीव को ही मिलता । शरीर का तो सीधा बयान है कि साहब जब तक यह नवाब साहब न आये थे, यह जीव न आया था तब तक हम बहुत अच्छे थे, आहार वर्गणायें । मुझमें मांस न था, कुछ गंदी चीज न थी, पुद्गल था, परमाणु था, स्कंध था, जब यह आया तो उसके आते ही पहले तो मुझमें दो टूक पड़ गए । हम सब एक रस थे, आहारवर्गणायें सब एक रस थीं । इस दुष्ट के आने से मुझमें दो फाटे पड़ गए । कुछ तो बन गए नम्र और कुछ रह गए कठोर । कुछ बन गए गीले और कुछ बन गए रुखे । अब इस आधार पर जो सबसे पहले यह भेद डाला इस कूटनीतिज्ञ ने, उसके बाद फिर ऐसा भेद पड़ता गया कि वह सब अपवित्रता का रूप आ गया । देखो मुझमें अपवित्रता आयी तो इस मोही जीव के सम्बंध से आयी, इसलिए यह जैसे अहाना है कि—“उल्टा चोर कोतवाल को डांटे” और अहाना है—“राह में हगे आंख दिखाये ।” तो ऐसे ही इस जीव ने हमारी ऐसी बरबादी की, हमको ऐसा अपवित्र कर दिया सो अशुद्ध अपवित्र अशुचि भवन में जुल्म ढाने वाला यह जीव है और यह जीव उल्टा हमारी बदनामी कर रहा है यह शरीर अपवित्र है तो यहाँ भी संघर्ष में देखो तो मूल में यह मोह अपवित्र है । और उन मोही जीवों में भी स्वभाव और विभाव ये दो वादी प्रतिवादी बन

जाये तो निर्णय होगा कि जीव अपवित्र नहीं। स्वभाव अपवित्र नहीं। यह विभाव, यह मोह ये परिणतियां ये अपवित्र हैं, लेकिन ये परिणतियां स्वतंत्र तो नहीं, स्वयं सत् तो नहीं। सत् तो एक ही है। केवल द्रव्य। न तो गुण सत् है, न पर्याय सत् है। सत् तो एक है वस्तु, वह वस्तु गुणपर्यायात्मक है, गुणसदंश है, पर्यायसदंश है, सत् एक वस्तु है। उस वस्तु में भी तीन भेद पड़ते हैं। द्रव्य गुण पर्याय तो तीन अंश हैं और इसी कारण कहा गया कि द्रव्य गुण पर्याय समवस्थित अर्थ है। तो पर्याय स्वतंत्र सत् नहीं है, द्रव्य का ही अंश है इसलिए पर्याय अशुद्ध है इसको कहें तो द्रव्य अशुद्ध है यह कहा जायेगा। अब द्रव्य का जो स्वभाव है उस स्वभाव की दृष्टि से कहा जायेगा कि यह अशुद्ध नहीं है। उस ही स्वभाव को नजर में लेकर अनुभव करना कि मैं ज्ञानमात्र हूँ।

(१७) **ज्ञानस्वरूप की निर्भारता**—इस ज्ञानस्वरूप में किसी अन्य का प्रवेश नहीं है। प्रवेश हो तो ज्ञान का स्वरूप नहीं बन सकता। जैसे आकाश में किसी चीज का प्रवेश नहीं। यद्यपि ऐसा दिखता है कि आकाश में तो अनेक द्रव्यों का अवगाह है, वह एक बाहरी दृष्टि से दिखता। परमार्थ से देखें तो आकाश स्वरूप में किसी अन्य का प्रवेश नहीं। यदि प्रवेश हो तो आकाश ही न रहेगा। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरे ज्ञानस्वरूप में किसी अन्य वस्तु का प्रवेश नहीं। अहो फिर मुझ पर भार ही क्या है? कुछ भार नहीं, कुछ मेरे पर बजन ही नहीं आता। ज्ञानमात्र हूँ, उस पर कुछ बोझ ही नहीं लग पाता। पर जो अपने को बड़ा भारवान अनुभव करते उसका कारण है विकल्प। विकल्प होने से अपने को भारसहित अनुभव किया जाता है। मुझ पर गृहस्थी का बड़ा भार आ गया। पिता गुजर गया, माँ गुजर गई, सारा भार मेरे पर आ गया। क्या अर्थ है? याने जो छत है, भींत है, लोग हैं, ये सबके सब इस ज्ञान पर आ गए क्या? इस ज्ञान के टूक हो गए क्या? इसका विकल्प किया, यह भी सम्हालना, यह भी सम्हालना, इसको निभाना, जहाँ ज्ञान में भीतर विकल्प मचे, ज्ञान गड़बड़ हुआ, विकल्प का भार आ गया, इसमें भार आता है तो विकल्प का और विकल्प बनता है पर को अपनाने से, पर का अपनाना छोड़ दें और स्वयं को ज्ञानमात्र अनुभव करें तो वहाँ भार का कोई नाम नहीं। मैं ज्ञानमात्र हूँ, मेरे स्वरूप में अन्य का प्रवेश नहीं, अतः निर्भार हूँ। यह ही यह ज्ञानस्वरूप दृष्टि में आये, बाहर में कुछ चाह न जगे, मैं ऐसा समझता हूँ, यह भी बताने का, दूसरों को जताने का भाव न जगे। इतना तक कटाव हो तो खुद खुद में रमने का अवसर पा सकते हैं। आप सोचेंगे कि शास्त्रसभा, तत्त्वचर्चा, स्वाध्याय ये उन्नति के साधन माने गए तो क्या ये मिथ्यात्व भरे हैं? नहीं। उन्नति के साधन हैं, मगर इन सब बातों में इस ज्ञानी का लक्ष्य रहता है कि इस माध्यम से मैं अपने आपकी बात बोलूँ, सुध लूँ और अपनी दृष्टि को स्वच्छ बनाऊँ और अपने भीतर में काम निकालूँ, यह अवसर है सारी तत्त्वचर्चा में, प्रवचन बोलने में, लेखन करने में। अगर दूसरों को यह जताने का भाव है कि लोग समझ जायें कि हाँ हमने ठीक समझा है तो ऐसा अगर जताने का कुछ भी भाव है तो वह मिथ्यात्व का अंश है। किसको जताना? कदाचित् ऐसा हो सकता कि कोई ज्ञानी पुरुष मिला तो अपनी कोई बात ठीक करने के लिए प्राप्त कर ली जाये, वहाँ पर भी इसकी स्वयं ईमानदारी है। कल्याण इस गुप्त का होना है। कल्याण

भी खुद गुप्त स्वरूप है। कल्याण की विधि भी गुप्त है। गुप्त को गुप्त में गुप्त का लाभ लेना है। उसके लिए बनावट, दिखावट, सजावट, मिलावट मोह रागद्वेष आदि ये सब बातें विघ्न हैं। विघ्नों से दूर रहकर निर्भार गुप्त ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व का अनुभव करना चाहिये।

(१८) **सर्व होनहारों में ज्ञानवैभव का आधार—जीव का वैभव है ज्ञान।** जीव को सुख दुःख होता है ज्ञान के विपरिणमन से। छुटकारा है तो ज्ञान की समीचीनता से। इस कारण अनेकानेक उपाय करके ज्ञान को सही बनाये और अपने आत्मा को समस्त दुःखों से छुटकारा देने का उपाय सिवाय तत्त्वज्ञान के और कुछ न होगा। उसी की दृढ़ता, उसी का उपयोग, उसी में रमण इसी को कहते हैं सम्यकदर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। तो वह तत्त्वज्ञान बना कैसे, इसके लिए जैन शासन का एक उपहार है स्याद्वाद। वस्तु की परीक्षा अनेक दृष्टियों से कर लें। चैंकि प्रत्येक वस्तु सदा रहती है और उसमें प्रतिसमय नई-नई हालत बनती है। तब दो बातें तो मानना आवश्यक ही होगा—सदा रहना और प्रति क्षण नया-नया होना, इन दो बातों से अलग रहकर किसी तत्त्व का अस्तित्व नहीं रह सकता। तो जो कुछ भी है उसमें ये दो बातें अवश्य ही पायी जाती हैं। इस ही को जैन शासन के शब्दों में कहा गया है—द्रव्य और पर्याय। प्रत्येक वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक होती है। तो कोई केवल द्रव्यदृष्टि का एकान्त करके वस्तु को समझना चाहे तो सही-सही न समझ सकेगा। कोई पर्याय का एकान्त करके वस्तुस्वरूप समझना चाहे तो नहीं समझ सकता, ऐसा किया है अनेक दार्शनिकों ने जैसे केवल द्रव्यदृष्टि का एकान्त किया है तो उस एकान्त में यह समझ में आया कि एक ब्रह्म है, अपरिणामी है, सर्वथा निर्लेप है, प्रभाव हीन है, तो किन्हीं ने पर्याय का एकान्त किया तो उनकी समझ में आया कि प्रति क्षण में नया आत्मा बना करता है। जो पहले हैं सो बाद में नहीं रहता। जैसे कोई किसी पुरुष का परिचय पाये वहाँ कोई बताये कि यह तो पिता ही है तो उसका मतलब हुआ कि सभी का पिता ही है ऐसा अगर कोई समझेगा तो वहाँ तो लड़ाई छिड़ जायेगी। कोई कहे कि यह तो पुत्र ही है तो भी परिचय नहीं मिलता। जब नाम ले लेकर, अपेक्षायें लगाकर बोलेंगे—इसका पुत्र है, इसका पिता है, अमुक गांव का है, अमुक व्यापार करता है, अनेक दृष्टियाँ लगाकर बतायेंगे तो पूरा परिचय होगा। इसी तरह वस्तु का पूरा परिचय अनेक दृष्टियों से होता है। स्याद्वाद यह एक अलौकिक ढंग है भगवान का बताया, प्रभु का उपदेशा, जिसके बिना हमारा न लोक में गुजारा न धर्म में गुजारा। तो ऐसे स्याद्वाद शासन को हमने पाया है तो उसका सदुपयोग करें। वस्तुस्वरूप का निर्णय बनाये।

(१९) **अहिंसा में तत्त्वज्ञान की उपयोगिता—देखो तत्त्वज्ञान का प्रयोजन है अहिंसा।** यह जीव कुछ भी विकार न करे, कोई रागद्वेष हमें न जगे और यह सहज जैसा है अपने आपमें बस जाये, बस यह ही ज्ञान का उत्कृष्ट का फल है। जो धन की होड़ करे, इज्जत की होड़ करे, लौकिक बातों की होड़ करे वह बिल्कुल फिसड़ी हो गया और जो एक आत्मदृष्टि करे, अपने स्वरूप में मग्न होने का पौरुष बनाये, धुन बनाये वह पवित्र आत्मा संसार संकटों से छूटेगा, पवित्र बनेगा। तो करने योग्य काम यह ही है। बाहरी बात जानें, पर हमारा अधिकार ही कुछ नहीं, बाह्य का निग्रह अनुग्रह मेरा कर्तव्य नहीं है। यह तो

उदयानुसार थोड़े से ही पौरुष में स्वयं होता है तो तत्त्वज्ञान करें स्याद्वाद का उपाय बनाकर और उसके फल में अहिंसामय अपने को बनाओ कि किसी भी जीव का बुरा मत हो, सब जीव सुखी शान्त हो, ऐसा मन बनाओ, इसमें कुछ आपका बिगड़ता है क्या? शान्ति मिलती, आनन्द मिलता । लेकिन यह भी कठिन लगता मोहियों को । कषाय से कितना प्यार है मोहियों को कि जिस किसी पुरुष पर कषाय उत्पन्न हो गई हो उसके प्रति बुरा विचारना, उसका बुरा करने की भावना चित्त में आने लगती है । कितना ही समझाये कोई कि किसी भी पर का बुरा न विचारों, इससे तुम्हें कुछ मिलता भी नहीं है, उल्टी बरबादी है, मगर कषाय के बश में इतना है यह प्राणी कि इतना भी करने में वर्तमान में असमर्थ हो रहा कि यह सबकी भलाई की बात सोच ले, मन से सबके हित का चिन्तन बनावे । अहिंसा का व्रत पालने के लिए पहली सीढ़ी जिसके बिना कुछ भी आगे कदम नहीं बढ़ सकता, यह है कि सबका भला विचार बनावें । सब सुखी हों और जितनी सामर्थ्य है दूसरे के दुःख के निवारण में लगे । देखो मार्ग बिल्कुल साफ है । चलने का जिसका भाव नहीं है उसको मार्ग दिखता नहीं, जिसका चलने का भाव है इस असार संसार से निवृत्त होने का भाव है और उसको हृदय से भी सब साफ दिख जायेगा कि हमारा कर्तव्य यह है । अहिंसा सर्व प्राणियों का भला सोचना । सब सुखी हों, ऐसी जिसकी भावना रहेगी वह भी सुखी रहेगा और वर्तमान में भी समझ में आयेगा कि यदि किसी भी क्षण मन में यह भावना जगती है तो वह खुद दुःखी है तो उसकी यह भावना जगती है कि मैं इसे दुःख पहुंचाऊ । खुद दुःखी हुए बिना कोई दूसरे को दुःख पहुंचाने की भावना बना ही नहीं सकता । और फिर इसमें दुःखी करने के उपाय में प्रयत्न कर-करके यह दुःखी हो जाता । तो जिस बात में पहले दुःख, बाद में दुःख उस काम में हाथ ही क्यों लगाते अर्थात् किसी भी जीव के बारे में बुरा ही चिन्तवन क्यों करना, सबका भला विचारे ।

(२०) ज्ञानी के अहिंसाभाव की नैसर्गिकता—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी योद्धा जो कि संग्राम में युद्ध कर रहा हो उसका भी भीतर में यह भाव रहता है कि मेरे द्वारा किसी भी जीव का अकल्याण न हो । ऐसा सुनकर लोग हैरान हो जायेंगे कि कैसे हो सकता है कि दूसरों से लड़ रहा और दूसरों के अकल्याण की भावना नहीं है मन में । भीतरी विश्वास की बात सही हो और परिस्थितिवश चेष्टाएँ करनी पड़ती हों ऐसी स्थितियाँ होती हैं कि नहीं? अनेक उदाहरण मिलेंगे । तो चूंकि उन उदाहरणों में कोई जान (प्राण) जाने की नौबत नहीं है सो लोग झट समझ लेंगे और यहाँ युद्ध में जान (प्राण) जाने का ख्याल हैं सो समझ में न आयेगा? मगर रीति नीति पद्धति का मिलान करे तो समझमें आयेगा । लड़कियों का विवाह होता है, वे अनेक बार ससुराल हो आती हैं, मानो १० बार ससुराल आयी गई, ११वीं बार जाना है तो यद्यपि उनके चित्त में यह बात रहती है कि अब तो बरसात के दिन है, कहीं घर में पानी न चू जाये, गेहूं वगैरह न खराब हो जायें, झट घर पहुंचना है, यों उनके मन में ससुराल जाने की उमंग है, उत्साह है, फिर भी जाती हैं तो उन्हें परिस्थितिवश रोना पड़ता है, क्या करें? परिस्थिति रोने को बाध्य करती है । ऐसे ही यहाँ समझिये कि कोई ज्ञानी योद्धा युद्ध में संग्राम करता है तो भी उसके मन में यही भावना रहती है कि किसी भी प्राणी का मेरे द्वारा अकल्याण न हो

। हाँ परिस्थिति उससे युद्ध कराती है । इन स्थितियों का प्रमाण यह है कि जब कभी थोड़ा अवसर मिलता है तो वह उसकी भलाई के उपाय बनाता है, बचाने के उपाय बनाता है । धर्म के प्रतिकूल उसकी चेष्टा नहीं रहती । तो घर में गृहस्थी में कहीं भी रह रहे हों तो वहाँ कोई कठिन परिस्थिति नहीं है । सबका भला विचारें और इससे बढ़कर फिर यह कदम है कि किसी भी चेष्टा में राग मत करें । बस यह ही अहिंसा का रूप है । अपने आपको न सताना सो ही वास्तव में अहिंसा है । जो रागद्वेष मोह करता है वह अपने आपको द्वृश्वासा देता है, बरबाद कर देता है सो उसकी यह हिंसा है । अपने को सत्य सही प्रसन्न रखने का नाम अहिंसा है । वैषयिक सुखों में राग हो तो उसमें सत्य प्रसन्नता तो नहीं रहती ।

(२१) अहिंसा की आराधना में कष्टसहिष्णुता का अद्भुत सहयोग—हम सबका कर्तव्य है कि हम अहिंसा से अपने को पवित्र कर दे, इन सब उपायों पर कोन पुरुष चल सकता है जिसको कष्ट सहने का अभ्यास हो । जो जरा-जरा से कष्टों से अपनी दुम दबाकर बैठ जाये वह पुरुष क्या आगे बढ़ सकता है? कष्ट तो मानने की चीज है । जो जितना मान ले उसे उतना ही कष्ट है । एक ही घटना १० जगह होती है तो कोई अधिक दुःखी होता है, कोई कम दुःखी होता है और कोई दुःखी होता ही नहीं । क्या बाहर में कष्ट रखा है ? मगर बाहर से कष्ट होता तो सबको एकसा ही कष्ट होना चाहिए । कोई दुःख मानता, कोई नहीं, उसका कारण क्या है कि जिसने अपने में कष्ट के लायक कल्पनायें की वह कष्ट में है और जिसने अपना ज्ञानबल सम्हाला वह कष्ट में नहीं है, फिर भी समागम में रहकर जो बात आती है कष्ट की उनका कुछ होता तो है प्रभाव, लेकिन उसके सहनशील बनो । जैसे बुन्देलखण्ड में लोग कहते हैं नखरे करना—कुछ पुण्य का उदय हो—शरीर का नखरा करना, बड़ी सुकुमालता दिखाना, मान आ जाने का नखरा, दसों बार कोई मनाये, थोड़ा लोग मनाने लगे, नखरे बन जाते हैं । अरे इस दुःखमयी संसार में किस पर नखरा करते हो? सब असार बातें हैं । नखरा तो सचमुच का नखरा है । जो खरा नहीं, जो भला नहीं, उसी का नाम नखरा है । भला कैसे हो सकता है? तो नखरेबाजी छोड़ दो, सीधे सरल रहो । अपवाद की कोई बात ही न हो । सब एक समान हैं । किसी के धन बढ़ गया तो क्या हुआ? ज्ञान बढ़ गया तो क्या हुआ? लोग इज्जत करते हैं तो क्या हुआ? अभी तो बन्धन ही बन्धन है । जीव का जो एक स्वतंत्र भाव है उसकी जब तक शुद्ध व्यक्ति नहीं है तब तक तो जीव संकट में ही है । नखरे से काम नहीं चलने का । सीधे रहो, काम में जुटो, ज्ञान में बढ़ो, अहंकार से हटो तो अपनी भलाई का मार्ग निकलेगा ।

(२२) कष्टसहिष्णुता और कषायहीनता का प्रसाद—भैया ! कष्टसहिष्णु बनो । कष्ट सहिष्णु होने के साथ-साथ वास्तविक नम्र रहो । कषायों का परिहार करो । समागम में तो जो भी जीव मिलते हैं वे सब भगवान्स्वरूप ही तो हैं । उस भगवत्स्वरूप के सामने गर्व करने का अवकाश क्या? सबका एक ही तो स्वरूप है । पर्याय में अन्तर है, सो वह कर्मकृत लीला है । उसका ही यह खूब रंग है, वह अन्तर पड़ा है । और जीव जीव ये सब स्वरूप में एक समान हैं । यहाँ किस पर गर्व किया जाये? जो गर्व करे वह अज्ञानी । उसको परमात्मस्वरूप का दृढ़ परिचय ही नहीं तब ही तो गर्व होता है । जो मैं हूँ सो ही हूँ । मैं ही महान्

हूँ, बाकी सब तुच्छ है, ऐसा किसे गर्व होता है जो अज्ञानी हो, जो जीव में बसे हुए अन्तः परमात्मतत्त्व को नहीं निरखता उसे अहंकार होता है। जो गर्व करे सो अज्ञानी है। जो किसी जीव पर क्रोध करे, मारने का संकल्प बनाये वह अज्ञानी। जो उन बाहरी वस्तुओं के संचय के लिए हृदय में मायाचार करे, छल कपट बनाये वह अज्ञानी। छलकपट बना-बनाकर भी सफल नहीं हो पाते। पचासों ऐसे मौके घर में आते होंगे। अनेक प्रकार से छल-कपट करते, मगर वह काम वाला नहीं और करीब-करीब छल-कपट वाला काम तो बनता ही नहीं। कुछ बनेगा तो बिगड़ जायेगा। और कदाचित् थोड़ा कल्पना में बन गया तो वहाँ तो बिगड़ ही दिया। जब छल किया, द्वेष किया तो आत्मा को हीन बना लिया, पतित बना लिया तो हानि तो तुरन्त हो गई। क्यों किसी बात का छल करना? मोह का रंग भी इस जीव को बुरी तरह बरबाद करता है। इस वैभव के प्रति, इस धन के प्रति ऐसी तीव्र तृष्णा रहती है कि चित्त में यह निर्णय समाया है कि हम बड़े हैं तो धन के कारण ही तो बड़े हैं, हम सुखी हैं तो धन के कारण ही तो सुखी हैं। मेरे पास खूब धन है। अच्छी कमाई है, धन ही मेरा सब कुछ है, ऐसा मन में विकट तृष्णा का भाव लगा है तो यह लोभ का रंग अनादि निधन पवित्र सकल समृद्ध भगवान् आत्मदेव का दर्शन नहीं होने देता। तो कषायों के रंग कम करना, तत्त्वज्ञान की ओर प्रयास करना।

(२३) **आत्मवैभव की सर्वोपरि समृद्धता—आत्महित की साधना** के लिए तन, मन, धन, वचन सर्वस्व न्योद्धावर कर देना युक्ति से, गुप्तरूप से, स्थिरता से, धीरता से ज्ञान को ज्ञान की ओर लाकर ज्ञान में ज्ञान को प्रतिष्ठित करना ऐसा अलौकिक काम क्षणभर में भी बन सके तो वह जीव कृतार्थ हो जाता है। इन सब बातों में जब उत्साह नहीं जगता तब यह कर्तव्य है कि हम वर्तमान साधु-संतों के गुणों का स्मरण करें, इस स्मरण से फिर उत्साह बन जायेगा। फिर मार्ग में अपनी गति बन जायेगी। इसके लिए ऋषि संतों के चारित्र जरूर विज्ञात होना चाहिए। उत्साह जगे, प्रेरणा जगे मोक्षमार्ग में लगने के लिए। तो हम साधु-संत ऋषि जनों की भक्ति का भाव बनायें, ऐसी प्रभुभक्ति, गुरुभक्ति, आत्मभक्ति का यदि हम पौरुष कर सके तो इस विनश्वर जीवन से हम कोई अविनाशी चीज पाने का लाभ ले लेंगे। मिटना तो है ही सब कुछ। उसके मिटने की बात है तो रहने दो, पर बन सके कुछ अमिट काम पाने का तो उसमें न रुकना चाहिए। लोग भी तो किसी बड़े लाभ में थोड़ा खर्च करना पड़ता है तो करते हैं, तो फिर जहाँ सदा के लिए अलौकिक सुख शान्ति का लाभ मिलना हो वहाँ तो हम तन, मन, धन, वचन को न्योद्धावर कर डालें तो हमने क्या खोया? क्या दिया, क्या लिया, क्या गंवाया। एक बहुत बड़ी सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करी। तो ऐसा जीवन हमारा पवित्र बीते, पाप में जीवन न जाये, सबकी भलाई का भाव बना रहे और अपने ज्ञानस्वभाव की धारणा, उपासना, आराधना बनती चली जाये, ऐसे क्षण जिसके व्यतीत हों वह पुरुष धन्य है, प्रशंसनीय है। करने का काम क्या है सो समझना चाहिये। अकर्तव्य से दूर रहें।

(२४) **हेय उपादेय का विवेक—प्रश्नोत्तररत्नमालिका में जहाँ पूछा गया कि हे भगवान्—उपादेयं किं अर्थात् उपादेय चीज क्या है ? तो कहा—गुरुवचन अर्थात् जो गुरुओं का वचन है वह उपादेय है। शास्त्र, ग्रन्थ में**

गुरुवचन द्वारा गुरुओं के दर्शन होते हैं। किसी का दर्शन तब होता है जब उसका अनुभव विचार भी हमारे विचार में आता कि हम ऐसे हैं। सही दर्शन तो वह है जो गुरु संतों ने पाला है। बताया है, आदेश किया, निर्देश किया इसमें कल्याण है वह उपादेय है, उसे मानकर चलना। फिर पूछा कि—किं हेय अर्थात् हेय क्या है? तो अकार्य अर्थात् जो करने लायक नहीं है सो हेय है। सब लोग जानते हैं कि क्या है हेय? जैसे कुत्ते को अपने हाथ से आपने रोटी का टुकड़ा खिलाया तो वह कितनी नम्रता आपको दिखाता है। अपनी पूँछ हिलाकर बड़ी नम्रता से आपके सामने पेश होता है और आपके द्वारा प्राप्त टुकड़े को कितनी प्रसन्नता से खाता है, और जब रसोईघर से वह रोटी उठा ले जाता है तो कितना कायर सा बनकर किसी कोने में ले जाकर छिपकर खाता है। देखो उस कुत्ते को किसी मास्टर ने सिखाया तो नहीं, पर उसे भी यह विवेक है कि चोरी का काम करने लायक नहीं है और यह ईमानदारी का काम अच्छा है। तभी तो वह कुत्ता चुराकर लाई हुई रोटी को छिपकर एक कायर सा बनकर खाता है और हाथ से दी हुई रोटी को बड़ी शान से, बड़ी प्रसन्नता से खाता है। उसकी समझ में यह बात है कि न्याय-नीति से मिले हुए टुकड़े में पाप नहीं लगता, और चोरी से लाई हुई रोटी खाने में पाप लगता है। तो जो अन्याय है उसे दूर करें, जो अकार्य है सो हेय है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ प्रकार के पापों के त्याग में आपका समस्त आचरण आ गया। किसी का दिल न दुखावें, किसी का बुरा विचार न करें, अहिंसा बन गई। किसी की चुगली मत करें, निन्दा मत करें, हितकारी वचन बोलें, सत्य बन गया। किसी की चीज मत चुरावें, उसको बड़ा दुःख होगा। जिसकी चीज चुराई गई है उसमें हिंसा भी है। सारे पाप हिंसा के कारण हैं। कौन नहीं जानता कि यह चोरी है। कुशील मत करें। बुरी वृष्टि मत बनावें और लालच मत करें। जिसको यह विश्वास ही न हो कि जो धन आता है वह सब पुण्य पाप का फल है। चाहे गरीब हो, चाहे धनी हो, जिसको यह विश्वास नहीं वह ही तो बड़े विकल्प मचाकर सोचता है कि मैंने कमाया, मैंने जोड़ा, तो भला बतलाओ उसका मिथ्यात्व भी हटा क्या? और जहाँ मिथ्यात्व न हटा तो वह महापाप से बरी क्या हो? परिस्थितियां कराती हैं वह बात अलग है, और भीतर में यदि कुछ ऐसी श्रद्धा बने कि मैं ही पालनहार हूँ, मैं ही राखनहार हूँ तो उसके आधार पर उसके कैसे खोटे व्यर्थ के बिना मूल के विचार उठते हैं, तो ऐसे कुविचारों का दूर होना और अपने आपके सहज स्वभाव की वृष्टि बनाना।

(२५) रम्य धाम—बड़े-बड़े पुरुष, बड़े-बड़े ऋषि, बड़े-बड़े धनिक लोग सब कुछ त्याग कर, जंगल में रहकर जिसकी खोज करते हैं, जिसकी छान करते हैं, जहाँ रमना चाहते हैं, समाधिभाव चाहते हैं वह तत्त्व क्या है? अपना सहज स्वभाव। कोशिश करते हैं। जैसे किसी गरीब को निधि मिल जाये तो अकेले में पोटली खोलकर उसे देख देखकर खुश होता है—मेरे पास इतना धन है। यह है, ऐसा है। ऋषिसंतों को कोई एक अनन्त आनंद की निधि मिली है तो उसे वे एकान्त में खोल खोलकर, देख देखकर, वृष्टियों से निहार निहार कर प्रसन्न हुआ करते हैं। हालांकि वे सबके बीच भी अपने भीतर की निगाह की गठरी खोलकर देखें तो कोई उसमें बाधा नहीं डालता, मगर सबके समागम के बीच दिखती भी तो नहीं है, वह

गठरी खुल भी तो नहीं पाती है। सबके पास लाल है, रत्न है, निधि है, पर गांठ में बँधी है, उस पवित्र तत्त्व को सर्वज्ञ से ही बांध रखा है, गांठ खोलकर नहीं देखते हैं और अपने को गरीब समझते हैं। तो कोई दूसरा जो भी आगे बढ़ा है प्रभु हुआ है, समर्थ हुआ है, कृषि बना है वह आत्मा ही तो है। अपने आपमें भी तो साहस बनावें कि हम भी बन सकते, प्रभु हो सकते, सर्वज्ञ हो सकते, निर्दोष हो सकते। शर्त यह है कि पर का लगाव न होना चाहिए। अब कोई इसी पर हठ हो जाये कि यह लगाव तो हम छोड़ नहीं सकते और धर्मात्मा बना दो तो यह बात नहीं बनती। क्यों लगाव नहीं छोड़ना चाहते, लगाव में धरा क्या है? कोई कल्पना है। मान लिया कि मेरा है। अरे वह जीव न आया होता घर में, दूसरा कोई जीव आया होता तो क्या उससे मोह करते? मोह करने की इसके कुटेव लगी है। कोई निर्णय तो नहीं है कि यह हमारा है, वह तो तुम्हारा मानने का है। चीज की ओर से नहीं है। लगाव छूटे, अपने आपके स्वरूप में आना बने, इसके लिए तो बहुत प्रसन्न होना चाहिए। किसी का लगाव छूट जायें तो वह दुःखी थोड़े ही रहेगा। जिसकी चिन्ता करते उसका तो अपना-अपना उदय है, कर्म है, उसका तो उदय के अनुसार सब बात बनेगा। अनेक घटनायें तो ऐसी हैं कि जब तक कोई घर का बड़ा लगाव में रहता है, बीच-बीच में बाधाएं डालता है अथवा वह समझता है कि मैं करता हूँ तो अपना खूब काम करता है तब तक घर के बच्चों का पुण्योदय विकसित नहीं हो पाता। अनेक घटनायें ऐसी देखने को मिली हैं और लगाव उसने छोड़ा है तो उनका पुण्य विकसित हो जाता है, और इतना तो कम से कम है ही कि जब तक लगाव रख रहा है तब तक वह समझता है कि मेरे को क्या परवाह, मेरा यह बुइढ़ा, मेरा यह बाबा हम लोगों की बहुत फिक्र रखता है तो हमें क्या करना? स्वयं भी पौरुष नहीं करता तो बताओ निज की हानि करे, दूसरे की हानि करें, ऐसे मोह में नफा क्या पालिया जाता? सही-सही ढंग से चलें, ज्ञानप्रकाश में चलें कषायों से हटकर तो आनन्द मानेंगे, कर्म करेंगे, सुख होगा। उसमें सब भलाई-भलाई की बात होगी। तो दुर्लभ इस जीवन में आत्मा के उद्धार का काम कर लें तो वह तो बुद्धिमानी है और जो मोह मोह में ही रमकर जीवन गंवाये तो वह सब अपनी बरबादी की ही बात है।

(२६) शाश्वत स्वरूप के आश्रय का कर्तव्य—जो कुछ सुनना है वह इस दृष्टि से सुनना है कि हमको करने की बात सुनाई जा रही है। जो कहेंगे वह करने की बात है, कर न सकें तो वहाँ धीरज धरें कि अभी हम कर नहीं सक रहे, मगर करने की बात यह ही है। अगर संसार के दुःखों से सदा के लिए छुटकारा पाने की अभिलाषा है तो करना यह ही पड़ेगा, उसी विषय में बोल रहे हैं। और आज क्या, सभी दिन उसी विषय में बोलेंगे। एक शास्त्र क्या, सभी शास्त्र उसी विषय के लिए हैं, अर्थात् जो आदेश हो रहा है प्रभु का उस पर मैं चलूँ, और दुःखों से सदा के लिए निवृत्त होऊँ। तो यह देखो कि जगत में दुःख है कि नहीं? सारा दुःख ही दुःख है। थोड़ी देर को कल्पना करके सुख मान लेते हैं किसी भी संग का, मगर वहाँ तुरंत भी क्लेश है और थोड़ी देर बाद प्रकट क्लेश आ जाता है। कौनसी स्थिति ऐसी है कि जिस स्थिति में कष्ट नहीं? केवल एक समाधि की स्थिति है ऐसी जहाँ कष्ट नहीं। मेरे को जितनी भी परिस्थितियाँ हैं सब कष्ट की

परिस्थितियाँ हैं। बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक सर्वत्र कष्ट ही कष्ट हैं। बच्चे को देखो—उन्हें जो चाहे डांट दे, जो चाहे भगा दे, पैसे जितने मांगें उतने न दे, फटकार दें, चुप करें, तो वे बच्चे लोग मन में कष्ट नहीं मानते क्या? अरे वे बहुत दुःखी होते हैं, वे सोचते हैं कि यदि हम भी ऐसे ही बड़े होते तो ऐसा कष्ट न झेलना पड़ता। अब जितने बड़े हुए वे क्या कष्ट में नहीं हैं? १७, १८, २० वर्ष के हुए तो वहाँ भी कुछ न कुछ विकल्प हो रहे हैं। शादी हो तो वहाँ भी अनेक प्रकार के विकल्प होते, जरा-जरा-सी बात में रुठते। यों रात-दिन कष्ट मानते कि नहीं? कौनसी ऐसी अवस्था है जहाँ कष्ट न हो। कुछ और बड़े हुए तो वहाँ भी अनेक प्रकार की चिन्तायें आ गईं, जिम्मेदारी आ गई तो वहाँ भी कष्ट मानते कि नहीं? एक दृष्टि से सोचो तो मनुष्य जन्म तो मानो इसलिए पाया था कि सच्चा आनन्द पायें, आत्मा की सच्ची सुध लें और एकदम फैसला करें कि मैं जो हूँ, जैसा हूँ, सही हूँ, वही बनकर रहूंगा।

(२७) **विषयविष से दूर रहने में कल्याण का लाभ—भैया !** आये तो इसीलिए थे कि मैं सहजस्वरूप की उपासना में जीवन लगाऊँगा, मगर करने क्या लगे? कहा फँस गए? कुछ तो जान-बूझकर फँसे कुछ परिस्थितियों ने फंसाया। तो सर्वत्र दुःख ही दुःख है। व्यापार चलता है, बड़ा फायदा होता है, फिर भी वहाँ बड़ा कष्ट मानते हैं, पर वहाँ समझते नहीं कि मैं कष्ट में हूँ। विकल्प तो करता है, हंसता है, वहाँ भी क्षोभ तो होता ही है, यह क्या कष्ट नहीं है? एक तो मीठा विष होता और एक कड़वा विष होता। मीठा विष खाने में उसे बुरा तो नहीं लगता। तो यही सांसारिक सुखों की बात है, वे मीठे विष हैं। विकल्प ही होते, आकुलता होती, सुध भूलते, प्रभु की याद नहीं रहती, अज्ञान में बस जाते, यह क्या कष्ट नहीं है? वेदना आयी वहाँ कष्ट, हानि हुई वहाँ कष्ट, बचपन से लेकर बुढ़ापा तक कष्ट ही कष्ट देखने में आया। वृद्ध हुए तो वहाँ भी कष्ट। शक्ति नहीं है कि अधिक खा सकें, मगर दूसरों को खूब खाते पीते देखते तो वहाँ वह वृद्ध क्या कष्ट नहीं मानता? इन्द्रियां काम नहीं करती और चाह बड़ी-बड़ी हो रही है। तो क्या वह चित्त में इशुलसत्ता नहीं है असमर्थ जानकर। बच्चे लोग उसकी बात नहीं मानते, बल्कि मजाक मानते तो क्या वह बूढ़ा दुःख नहीं मानता? कौनसी स्थिति है ऐसी जहाँ आनन्द मिलता हो? जब यह मनुष्य-जीवन दुःखमय है तो इससे अधिक दुःखमय जीवन तो पशु-पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा आदि का है। उनकी तो न कुछ जैसी दशा है। कहाँ इज्जत, कहाँ कीर्ति, कहाँ वे चैन से रहते? कुछ भी नहीं है। तो सारा संसार दुःखमय है। तो पहले चित्त में यह फैसला बनावें कि संसार में इसी तरह जन्म मरण करके, मोह रागद्वेष करके जरा खाना-पीना और इन्द्रिय विषयों में राजी होकर और दुर्गतियों में जन्म ले लेकर रहना है क्या? या इन झंझटों से छूटकर शुद्ध पवित्र बनकर महत्त्व प्रकट करके सदा के लिए शुद्ध स्वच्छ आनन्दमय रहना है। ये दो बातें सामने हैं। क्या रहना चाहते सो फैसला कर लो। अगर संसार में रहना चाहते, जन्म मरण भोगना चाहते, आज संयोग हुआ तो हर्ष मानते, वियोग हुआ तो कष्ट मानते। हर समय आकुलता मचायी, अगर यह इष्ट है तो यह तो गाड़ी अनादिकाल से चलती ही आ रही है? वह तो आप कल्पना मूल्य से खरीद ही रहे हैं। किसी से पूछना भी नहीं है, दचका वाली गाड़ी चलती ही रहती है। करते रहते हो, करते जाओ मोह रागद्वेष इष्ट

अनिष्ट बुद्धि, पर को अपना मानना, विषयों में प्रीति, देह को यह मैं हूँ ऐसा समझना ये सब उपाय इस बात के हैं कि नाना दुर्गतियों में जन्म लें, मरण करें और जीवनभर इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, शारीरिक वेदना और आशा, तृष्णा, इनके दुःख भोगते रहें यदि ऐसा ही चित्त में है तो उसे उपदेश देने की जरूरत नहीं । इसमें तो सभी अभ्यस्त हैं ही अनादि से । एक से एक बढ़कर गुरु बन रहे हैं, उसे समझाने की आवश्यकता नहीं तथा अगर यह चित्त में आ रहा हो कि हम तो निश्चित तौर से उपाय करते हैं कि जिस किसी भी प्रकार मेरे को मेरे में ऐसी मौज मिले कि जिससे चलकर मैं सदा के लिए जीवनमुक्त होऊँ । यदि ऐसी अभिलाषा है तो उसका उपाय ऋषि जनों ने बताया है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ।

(२८) संसारवेदना का मूल भ्रम—मोक्षमार्ग के इस प्रसंग में उसके विपरीत यह समझिये कि हमको यह सकल दुःख जो संसार में लगा है तो किस कारण लगा है ? मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के कारण । इन सबको अगर एक में बांधो तो कहो भ्रम? जितना दुःख लगा है वह सब भ्रम से लगा है । भ्रम के बारे में गुजराती एक कथानक है ऊँट का । बोलते हैं कि यह तो ऊँट का बंधना है । एक पुरुष २१ ऊँट लिए जा रहा था और बहुत दूर जाना था । रास्ते में दो तीन जगह ठहरना भी पड़ेगा ऐसा जानकर वह ऊँट वाला ऊँट बांधने के लिए खूँटे तथा रस्सियाँ साथ ले गया । भूल से वह २० ही खूँटे तथा रस्सियाँ ले गया था । जब वह रास्ते में शाम को किसी गांव में ठहरा तो सभी ऊँटों को उसने खूटा गाड़कर रस्सी से बांध दिया, इसलिए कि कहीं भग न जावे । अब एक ऊँट बाकी बच गया । उसके बांधने के लिए खूटा तथा रस्सी न थी । सो सभी ऊँट तो आराम से बैठ गए, पर वह ऊँट जो अभी खूट में बँधा न था वह खड़ा ही रहा । ऊँट वाला उस ऊँट से कहने लगा—तू भी बैठ जा । तो वह ऊँट मानो बोला—हम नहीं बैठते, हमको पहले इन सब ऊँटों की तरह खूटा गाड़कर बांधो तब बैठेंगे । तुमने इन सब ऊँटों का तो स्वागत किया और हमारा अपमान किया । जब वह ऊँट न बैठा तो वह ऊट वाला सोचने लगा कि यदि यह गायब हो जायेगा तो क्या करेंगे? सो वह गौंव के मुखिया के पास गया, बोला—मुखिया जी, हम बड़ी परेशानी में हैं, हमारे २० ऊँट तो खूटों में रस्सी से बँध गए, पर एक ऊँट नहीं बंध सका सो वह बैठता ही नहीं, क्या करें? तो मुखिया बोला—देखो तुम उसके पास जाकर यों ही झूठ मूठ का खूटा गाड़ने का काम कर दो और फिर झूठ-मूठ ही उसके गले में रस्सी बाँधने का काम कर दो, वह बैठ जायेगा । ऐसा ही किया उस ऊँट वाले ने, तो उस ऊँट ने यह भ्रम कर लिया कि मैं बँध गया और बैठ गया । जब प्रातःकाल हुआ तो सभी ऊँटों के गले से उस ऊँट वाले ने रस्सियाँ खोलीं, खूँटे उचकाकर उखाड़ लिये तो उसके सभी ऊँट खड़े हो गए । वह एक ऊँट अभी बैठा ही रहा तो फिर वह पुरुष उस मुखिया के पास गया, बोला—मेरे सभी ऊँट तो खड़े हो गए पर अभी एक ऊँट नहीं खड़ा हुआ सो कैसे क्या करें? तो उसने उपाय बताया कि देखिये—तुम उसके पास जाकर झूठ-मूठ ही उसके गले से रस्सी खोलने का तथा झूठ मूठ ही खूँटा उचकाकर उखाड़ने का काम करो तो वह ऊँट खड़ा हो जायेगा । उस ऊट वाले ने आकर वैसी ही झूठ की क्रियायें की तो वह ऊँट झट खड़ा हो गया । तो देखिये वहाँ था क्या? उस ऊँट को कोरा भ्रम ही तो था । न कोई वहाँ खूटा था, न कोई

रस्सी थी, पर झूठ मूठ की उस तरह की किया कर देने पर उसने भ्रम कर लिया कि अब मैं बँध गया और अब मैं छूट गया । बंधने का भ्रम कर लेने से बैठ गया और छूटने का भ्रम कर लेने से खड़ा हो गया । वहां था कुछ नहीं, केवल भ्रम था । भ्रम से ही उस ऊँट का बंधना और छूटना हुआ, बैठना और खड़ा होना हुआ, इसी तरह भ्रम से ही हम आपका बंधना और छूटना हो रहा है । जैसे वह ऊट बन्धन से राजी था—ऐसा खूटा मिले, ऐसी रस्सी मिले तब मैं ठीक कहलाऊंगा, तब मैं काम करूँगा बैठने का । ऐसे ही यह मनुष्य भी सोचता है दूसरों को देख-देखकर कि मेरे को अगर ऐसा घर का फसना मिले, ऐसा परिवार का बंधना मिले तो मेरा मौज है, नहीं तो मेरे को मौज नहीं, तो ऐसे ही भ्रम से हम दुःखी होते, भ्रम मिट जाये तो हमारा दुःख मिट जाये, सर्वत्र आप भ्रम का ही कष्ट पा रहे हैं यो समझिये ।

(२९) भ्रम का परिणाम कष्ट का भोग—भेया ! लगता है ऐसा कि भ्रम की क्या बात है? घर भी तो अच्छा है, खेती होती है, काम अच्छा चल रहा है, खूब धन आ रहा है, सब मौज है, काम अच्छा चल रहा है, लोग सोचते हैं ऐसा मगर हम तो आत्महित की दृष्टि से कह रहे हैं कि परिस्थिति में करना पड़े तो करें मगर श्रद्धा में तो यह लाना पड़ेगा कि मेरे आत्मा की भलाई तो मेरे भीतरी ज्ञानप्रकाश से है और तरह नहीं है, अन्यथा बताओ—रोज एक किलो खा-खाकर समय व्यतीत होता, दूसरा दिन होता फिर वही एक किलो चाहते । मरने के बाद वहाँ न जाने क्या बन गए, बैल बन गए अथवा हाथी बन गए तो फिर वहाँ क्या हाल होगा? फिर तो दसों बीसों किलो खाने की जरूरत पड़ेगी । इतने से कम में तो काम न चलेगा । अगर एक जन्म मरण की परिपाटी ही पसंद है तो फिर खूब रागद्वेषादि करते रहो, और यदि इस जन्म मरण से छूटना है तो उसका उपाय है सम्यग्ज्ञान । देखो नई बात यहाँ हम आप सबके लिए कुछ नहीं है, सब पुरानी गुजरी बात है । जो कुछ मिलता है खाना पीना रूपया पैसा भोग सामग्री आदि वे सब क्य (बमन) की हुई हैं, जूठी हैं । जैसे कोई किसी चीज को खाकर उसका क्य (बमन) कर दे तो उसे कोई फिर खाता है क्या? अरे खाने की बात तो दूर रहो, उसे कोई फिर छूना भी नहीं चाहता । तो इसी तरह हम आपने ये सब चीजें भव-भव में खाया और भोगा । कोई ग्राह्य परमाणु नहीं बचा जिसे स्कन्धरूप में खाया न हो, भोगा न हो । तो अनेक बार भोगी हुई चीजें वे सब बमनरूप ही तो हैं । उसी को यदि रोज-रोज खाते हैं तो भाई घर में रहते हुए परिस्थितिवश जो बनता है ठीक है, मगर सच्चे ज्ञान में तो जरा भी कमी न करना चाहिए । वह सम्यग्ज्ञान की बात जब हमारी सही बने बन जायेगी । मगर श्रद्धा और ज्ञान तो हमारा बिल्कुल सही रहना ही चाहिए तो भ्रम छूटता है । भ्रम लगा है चार बातों से, एक तो अहंकार—जो मैं नहीं हूँ उसे मानना कि मैं हूँ वह भ्रम है । जो अनात्मा को आत्मा मानेगा उसको तो कष्ट आयेंगे ही । जो मेरी चीज नहीं उसे श्रद्धा में मानें कि यह मेरी चीज है तो उसका फल तो तकलीफ है । फायदा कुछ नहीं है । इसी प्रकार ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व के अलावा जो कुछ भी है वह सब पर है । उससे मेरे आत्मा का रंच भी सम्बंध नहीं है, उसे माने कि यह मैं हूँ, यह मेरा है तो उसका तो फल कष्ट ही है ।

(३०) परिश्रम का प्रतिकार विश्राम—देखो जब शरीर से बहुत बड़ा श्रम कर डालते हैं तो उस थकान को

मेटने के लिए ढीले-ढाले शरीर से लोटकर आराम पाते हैं और उस आराम के बाद फिर तगड़े हो जाते हैं, यह बात बोलते हैं ना। खूब काम करते-करते थक गए तो उसके बाद शरीर को ढीला करके लेट गए शरीर को कड़ा करके कोई नहीं लेटता और कड़ा करके कोई लेटे तो थकान नहीं मिटती। सारा शरीर ढीला छोड़कर सीधा लेटे, करवट से लेटे, बल्कि ऐसे लेटे कि हाथ पैर हिल-इल जायें, बिल्कुल ढीला ढाला शरीर करके आराम करते हैं तो फिर ६-६ घंटे बाद तगड़े होकर अपना काम कर सकते हैं। तो शरीर जब थक जाये तो आराम लेते कि नहीं। ऐसी ही बात यहाँ देखें कि जब मन थक जाता है सोच-सोचकर, विकल्प कर-करके, मोह कर-करके, लड़-लड़कर तो आपने उस थकान को मेटने का कोई आराम समझा हो तो बताओ वह थकान कैसे मिटे? शरीर की थकान तो ढीले-ढाले पड़कर आराम से मिटती, लेकिन दिल में जो थकान बन गई विकल्प करके, मोह करके, आकुलित होकर, शंकायें करके क्या होगा? यह हो रहा कुछ नुकसान, यह नुकसान पचासों विकल्प लगा-लगाकर जो दिल की थकान बन जाती है उस थकान को मिटाने का कोई उपाय सोचा क्या? उस थकान को मिटाने का सच्चा उपाय है आत्मप्रकाश आत्मज्ञान। केवल इष्ट में आत्मस्वरूप ही रहे तो वह थकान मिट सकती है। परेशान शब्द का अर्थ क्या है? पर और ईशान। ईशान कहते हैं मालिक को, और जहाँ पर को मालिक बनाया अथवा जहाँ पर का मालिक बना तो इसी भाव को परेशान कहते हैं। अब खूब सोच लो। जो-जो लोग परेशानी का अनुभव कर रहे उनके चित्त में यह बात बसी है कि मैं इनका मालिक हूँ अथवा यह मेरा मालिक है। मैं इनका जिम्मेदार हूँ। ऐसी कुछ भी बात सोचता है तो वह परेशान है और जैसा स्वतंत्र स्वरूप है अपना पर का ऐसा स्वतंत्र स्वरूप माने तो वहाँ परेशानी किस बात की? एक उदाहरण से इसे समझ लो—कोई सोचे कि मैं बहुत कमाने वाला हूँ तो उसका सोचना भ्रम है। उस धन को जिन-जिनने भोगा, जिन-जिनके भोगने में वह धन काम आया क्या उनके पुण्य का कुछ भी उदय नहीं है? अरे उनके पुण्य का उदय आया तभी तो आपके द्वारा धन की खूब कमाई हो रही है। आप उनका पालन-पोषण नहीं कर रहे, बल्कि आपको तो उनका नौकर बनना पड़ रहा है। आप उस पर अहंकार क्यों करते? तो आप तो एक मशीन की तरह हैं। जिन जिनके भोगने में वह धन काम आयेगा उनके आराम के लिए आप मशीन हैं। मशीन को कहीं कमाते देखा? क्योंकि वह तो एक दूसरे के उपभोग के लिए चीज बन रही है। अहंकार क्या करना? जिसका जैसा भाग्य है उसे वैसा होगा।

(३१) निर्भ्रान्त होकर परिस्थिति के अनुकूल कर्तव्य के निर्वाह का विवेक—आप इस समय गृहस्थी में हैं तो आपकी जिम्मेदारी है वहाँ आप अपनी इयूटी बनाये इतना ही मात्र तो कार्य है, उसके फल के बारे में ऐसा कुछ न विचारें और तृष्णा को बाँधकर न रखे, सुगमता से जो हो गया सो ठीक है। जिन जिनका जैसा भाग्य है उनको वैसी लक्ष्मी आयेगी इसमें बंधन की क्या बात है? जितना कष्ट है वह सब भ्रम का कष्ट है। भ्रम लगा रखा, कल्पनायें बना रखीं, अपने आत्मा की सुध भूल रहे हैं। तो कुछ तो जीवन को मोड़े, कुछ सम्यग्ज्ञान में अपना समय लगावें, कुछ स्वाध्याय में, कुछ चिन्तन में अपने आपको जुटावें और कभी यह मत समझें कि हम पर कोई क्लेश आया। क्लेश तो दुनिया में है ही नहीं। मानते हैं तो क्लेश है और

कोई शारीरिक क्लेश भी आ जाये कि जिसको मानना ही पड़ता हो तो इतना बल बनायें कि उसे समता से सह सकें। आया है तो परवस्तु है, उसका ऐसा परिणमन है। मैं उसका कर क्या सकता हूँ। धैर्य बनावें। कभी अपने में विपत्ति का अनुभव न करें। जो स्थिति हो सो मंजूर। जैसे उदयाधीन काम हो सो स्वीकार है, मेरा क्या बिगड़ता है? मेरा बिगड़ है तो अपने स्वरूप को भूलने में, भ्रम करने में मेरा बिगड़ है। उसका कहीं इलाज नहीं है। किसी को भ्रम का रोग हो और इलाज करे कोई दूसरा तो क्या उससे उसका भ्रम मिट जायेगा? नहीं मिट सकता। अरे जिस विधि से भ्रम मिटता है वह इलाज किया जायेगा तो भ्रम मिट सकता है, किसी दूसरे उपाय से भ्रम का रोग दूर नहीं हो सकता।

(३२) उदाहरणपूर्वक परविविक्तता का दिग्दर्शन—जैसे एक शंख होता है, जिसे लोग बजाते हैं, तो उस शंख के अंदर एक कीड़ा होता है उसका ऊपर वाले खोल से एक बाल बराबर सम्बंध रहता है। वह कीड़ा उस ऊपर वाले खोल से अपना मुख बाहर निकाल लेता है। उसका सारा ढांचा बाहर आ जाता है, पर उसका कुछ न कुछ सम्बंध बना रहता है। वह कीड़ा मिट्टी वगैरह जो कुछ खाता है उसी से वह भी पुष्ट होता रहता है और उसके ऊपर का पोल भी पुष्ट होता रहता है। देखिये कैसी विचित्रता है कि हम आपका शरीर तो हड्डियों के ऊपर लदा है, पर उस कीड़े के शरीर के ऊपर हड्डियों जैसा कड़ा खोल लदा रहता है। तो देखिये वह शंख भूरी, मुल्तानी आदि अनेक प्रकार की मिट्टी खाता है फिर भी उसके ऊपर का वह खोल उन मिट्टियोंरूप नहीं बन जाता। वह सफेद शंख जब कभी काला बनना होता है तो क्या उसे कोई रोक सकता है? नहीं, बिल्कुल भिन्न बात है। तो ऐसी ही इस आत्मा और शरीर की बात है। इस आत्मा की अन्य चीजों की भी बात है। मैं कुछ सोचूँ तो उसके मुताबिक हो जाता है क्या बाहर में? मैं विकल्प करूँ तो उसका बंधन और हो जाता है। बाहर में मेरे सोचने से बनता कुछ नहीं, विकल्प करें तो बन्धन और बन जाता है। दिन भर काम करते, मन का भी काम करते, वचन का भी काम करते, शरीर का भी काम करते, उस सब थकान को मेटने का एक घंटा समय तो रखना ही चाहिए। वह थकान मिटेगी ज्ञान प्रकाश में। स्वाध्याय करें, तत्त्वचर्चा करें, तत्त्वचिन्तन करें। मरण समय सभी का आ ही रहा है। तो इन क्षणों को अमूल्य समझें। प्रमाद में न गंवाये, गप्पों में न गवायें, उसका सदुपयोग बनायें। कोई ग्रन्थ ले लें, उसे बांचने लें। कोई कठिन न लगेगा। सब सरल बात हो जायेगी। तो इन सब कष्टों को, थकानों को दूर करने के लिए हमें सम्यग्ज्ञान का उपाय बनाना चाहिए। इन उपायों के बनाये बिना हम कभी भी संकट मुक्त हो नहीं सकते।

(३३) परभावविविक्त निज एकत्रधाम में परमविश्राम का सुयोग—मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा अनुभव करने के लिए विविक्तता रूप से परिचय करना चाहिए। यह जीव परमार्थतः अनादिकाल से समस्त पर से विविक्त है। यह परिवार है सो मैं हूँ, यह देह है सो मैं हूँ, जो भौतर में विचार उठते हैं सो मैं हूँ, जो मैं कर रहा हूँ सो सही कर रहा हूँ, ऐसा ही करने का मेरा काम है, इस तरह परतत्वों में यह लिपटा-लिपटा चला आया है। तो परतत्वों से हटने की विधि का भी प्रयोग करना चाहिये। और वह पद्धति मानो इस प्रकार है कि जैसे

कोई पुरुष विलायत में गया, वह जब स्वदेश आना चाहता है, मानो आपके शोलापुर ही वह आना चाहता है। वह जब वहाँ से टिकट कटाकर चलता है तो कुली लोग अथवा मजदूर लोग अथवा कोई मित्रजन उससे पूछते हैं कि भाई आप कहा जायेंगे? तो वह कहता है कि हम इंडिया (भारत) जायेंगे। जब वह वहाँ से चलकर भारत के किसी हवाई अड्डे अथवा बन्दरगाह पर आता है, वहाँ कोई पूछता है कि आप कहाँ जायेंगे? तो वह कहता है। कि हम महाराष्ट्र जायेंगे। जब महाराष्ट्र के किनारे वह पहुंचता है तो वहाँ कोई पूछता कि आप कहाँ जायेंगे? तो वह उत्तर देता कि हम शोलापुर जायेंगे। जब शोलापुर स्टेशन पर आ गया तो वहाँ किसी रिक्शे वाले ने पूछा आप कहाँ जायेंगे? तो वह उत्तर देता कि हम फलाने मौहल्ले में जायेंगे। फिर उस मौहल्ले में वह जाकर कहता कि हम तो इतने नम्बर के मकान में जायेंगे। जब उस मकान में वह पहुंचता है तो अपने विश्राम के कमरे में पहुंचकर बड़े चैन से विश्राम करता है। तो ऐसे ही हम आपका यह उपयोग अपने निज विश्रामधाम से हटकर बहुत बाहर पहुंच गया है। वहाँ उसे कहीं शान्ति तो मिलती नहीं किन्तु सुख मौज ऐशा आगम वैभव ये सब चीजें मिलीं, इनमें मस्त रहा इसमें भी शान्ति न पाई अब सुध आयी कि चलो अपने देश चलना है, अपने निज धाम में चलना है। तो जब बहुत दूर तक यह पहुंचा हुआ था। यहाँ तक कि जीव ने प्रकट भिन्न पदार्थों में भी आत्मीयता अंगीकार कर डाला था, यह घर है सो मैं हूँ। घर की एक ईंट भी खिसक जाये, टूट जाये, बीच में से निकल जाये तो ऐसा अनुभव किया कि मानो दिल में से ही कुछ निकल गया। इतना अजीव पदार्थों के साथ लपेट बनाया। अब जब बाह्य भौतिक से हटता है तो मानो कोई पूछे यहाँ से हटकर कहाँ जा रहे? उत्तर—बाह्य जीव तत्त्व के प्रसंग में, जीव तत्त्व से सम्बंध बनाने के लिये। अजीव पदार्थों से नहीं, भिन्न क्षेत्रों में रहने वाले पदार्थों से नहीं। वहाँ से हटकर आये जीव पदार्थ पर, तो परिवार में अटका, यहाँ से हटकर कहाँ जावे? इन भिन्न क्षेत्र वाले परजीवों से हटकर कहाँ जा रहे हो? हम अपने एक क्षेत्रावगाही पदार्थों में आ रहे हैं। इसमें यह देह तक आया, देह में अटका। यहाँ से भी हटकर जायेगा, कहाँ जायेगा? इन प्रकट दृश्यमान एक क्षेत्रावगाही परतत्त्वों से हटकर आया एक कर्म देश में कार्मण वर्गणा में, उसके फल को, उसके प्रभाव को इसने अंगीकार किया था, कर्मक्षेत्र से भी हटकर आता है तो उस योग की विपरिणति पर मानो आया। भावों पर, क्रोध, मान, माया लोभ में मानो आया, यहाँ से भी हटकर आता है विचार-तरंगों तक। विकार में और इस विचार में इतना अन्तर है कि विकार में तो गुण की अनुरूपता रंच भी नहीं है और विचार से कुछ गुण की अनुरूपता है, और ऐसा होने का कारण यह है कि विकार तो होता है कर्मोदय से और विचार होता है उदय एवं क्षयोपशम से। ज्ञानावरण का क्षयोपशम पाया, इतने विचार बनने लगे, लेकिन वे विचार भी अनात्मतत्त्व हैं, वहाँ से हटकर पहुंचा तो अन्तर्जल्प में, वहाँ से भी हटकर पहुंचा तो कहाँ? निश्चय के विषयभूत अखण्ड तत्त्व की पात्रता दिलाने वाले विचार पर, और वहाँ से हटकर अपने निज धाम चैतन्यस्वभाव उसमें यह उपयोग पहुंचा है, वहाँ विश्राम लेता है। तो कितना दूर-दूर यह उपयोग हटा था और कितनी मूढ़तायें कर रहा था, दुःखी हो रहा था, यह बात समझमें आती है। जब हम विविक्तता के क्षेत्र का अध्ययन करते हैं—इससे भी निराला, इससे

भी निराला ।

(३४) मोह अपराध का भयंकर परिणाम—अब तक जो कष्ट उठाया वह सब अपनी मूढ़ता के कारण उठाया । मूढ़ता कहो या मोह कहो, एक ही अर्थ है, पर लोग मोह को तो गाली नहीं समझते और मूढ़ता शब्द को गाली समझते हैं । अन्तर है क्या? मुहूर धातु से मोह बनता, मुहूर धातु से मूढ़ता बनता । शायद यह अन्तर मान रखा हो कि मोह की तो मुहूर धातु से सीधी भाववाचक निष्पत्ति हुई और मूढ़ता शब्द में मुहूर धातु से संज्ञा बनाया, फिर भाववाचक प्रत्यय लगा है, पर यह जीव इतना कहां समझदार है और इसमें अन्तर ही क्या है? मूढ़ता की, बेवकूफी की । तो जो बेवकूफी करे, मूढ़ता करे उसको दण्ड मिलना प्राकृतिक बात है । बेवकूफ होकर फजीहत ढूँढ़ने की, विपत्ति ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती बेवकूफ के सिर पर विपत्ति लहराती ही रहती हैं । यह बेवकूफी है परतत्त्वों में आत्मीयता का अंगीकार करना, यह मैं हूँ । सुनने में अथवा कुछ चर्चा में एक आश्चर्य सा होता है कि यदि किसी जीव ने इतनी बात मान ली कि देह मैं हूँ तो यह कोई बड़ा गुनाह तो नहीं है । किसी आदमी को पीटा नहीं, किसी की चोरी नहीं की, किसी को सताया नहीं, अकेला बैठा है, देह को मैं मान रहा है, इसमें कौनसा अत्याचार किया, गुनाह किया, जिसका कि इतना बड़ा दण्ड दिया जा रहा है कि पशु बने, कीड़ा-मकोड़ा बने, पेड़-पौधा बने, ऐसा कौनसा बड़ा गुनाह हो गया? केवल देह में आत्मबुद्धि कर ली । ऐसा मन में प्रश्न हो सकता है । किन्तु वस्तुस्वरूप की ओर से देखो तो यह सबसे बड़ा गुनाह है, पर को आपा मान लेना यह ही समस्त पापों की जड़ है और साक्षात् भी यह अन्याय है कि तुम पर की सत्ता ही नहीं रहने देते अपनी कल्पना में यह देह यह स्कंध भी सत् है, इतना भी मानना इसको बरदास्त नहीं हो रहा और इतना पापबुद्धि में आ गए कि इन अनन्तानन्त परमाणुओं की सत्ता मिटाने पर उतारू हो गए । यह कम गुनाह है क्या? अनन्तानन्त आहार वर्गणाओं की सत्ता मिटा देना विकल्प में, यह तो महापाप हुआ । इससे देह को माना कि मैं हूँ । इसका अर्थ है कि देह नहीं है इसकी सत्ता ही नहीं है । यह तो मैं हूँ, तो परपदार्थ के सत्त्व का घात करना, सारे विश्व की हिंसा करना अर्थात् जगत् में जितने पदार्थ हैं सब पदार्थों की सत्ता का लोप कर देना यह कितना बड़ा भारी अपराध कहला सकता है? जिसने वस्तु की स्वतंत्रता स्वीकार नहीं की, प्रत्येक पदार्थ स्वयं सत् है, एक का दूसरे में अत्यन्ताभाव है, एक दूसरे रूप न कभी हो सका न कभी हो सकेगा । यों समस्त पदार्थ स्वतंत्र सत्ता रखते हैं, इस तथ्य को न मानकर और सब रूप अपने को कर डाले तो इसको तो महान् क्रोध कहा कि सबका विनाश कर दिया । कर नहीं सकता विनाश, पर कल्पना में तो सबको मिटा दिया और इतना गर्व में आया यह कि अन्य कुछ चीज नहीं । मानो इसका अस्तित्व ही नहीं, सब मैं हूँ । तीव्र जो कषाय रखे और उससे भी तीव्र पाप है अज्ञान तो इतना दण्ड पायेगा ही ।

(३५) मोह राग द्वेष के अनर्थ का उदाहरण—मोह रागद्वेष के अनर्थ की एक घटना दृष्टान्त में दी गई है कि जंगल में हाथियों के पकड़ने की विधि क्या है कि एक बहुत बड़ा गड्ढा खोदा उस गड्ढे पर बांस की पतली-पतली पंचे बिछा दें, उस पर जमीन जैसे रंग का कागज बिछा दिया, उसके ऊपर कुछ हथिनी जैसे

रूप ढाँचे में झूठी हथिनी बना दी और करीब ५० हाथ दूर पर एक ऐसा झूठा हाथी बनाया कि जो मानो इस हथिनी की ओर दौड़ता हुआ सा दिखे। बस इतना दृश्य बनाना है शिकारी को और अपने घर आराम से बैठता है। जंगल का हाथी झूठी हथिनी को देखकर उस गड्ढे पर आता है और आने की जल्दी भी मचाता है, क्योंकि वह देख रहा है कि दूसरा हाथी आ रहा है। मैं पहिले पहुंचूँ। वह गड्ढे पर आता है, बांस टूट जाते हैं और वह गड्ढे में गिर जाता है। कई दिन तक उस हाथी को भूखा रखते हैं, फिर रास्ता बनाकर उस कमजोर हाथी को निकाल लेते हैं और अंकुश से वश में रखते हैं। तो उस हाथी ने विपत्ति पायी उसका मूल कारण है रागद्वेष मोह। उस हाथी को अज्ञान था जिससे वह यह न पहिचान सका कि यह झूठी हथिनी है, राग था उस हथिनी से और द्वेष था उस हाथी से कि यह हाथी उसका विषय न बिगड़े। यों मोह राग द्वेष से आक्रान्त होकर हाथी गड्ढे में गिर पड़ा। ऐसे ही संसार के जीव जितनी भी विपत्ति में पड़े हैं उसका कारण है मोह राग द्वेष अज्ञान। यह विषय सुख भयानक है मायाजाल है, आत्मा के हित के हेतुभूत नहीं है। अकल्याणमय है। परपदार्थ, इनके अनुभवने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है। सही ज्ञान नहीं है, अज्ञान बसा है, विषयों के प्रति राग लगा है और उन विषयों में जो बाधा डालने वाले हैं उनसे द्वेष लगा है। विषयों में बाधा डालने वाले दो तरह के माने गए हैं—एक तो वह जो इस विषय को चाहता हो जिस विषय को यह चाहता है, दूसरा वह जो इन विषयों को भंग करने में विघ्न करता हो। तो मोह रागद्वेष इन तीनों के वश होकर प्राणी दुःखी हो रहा है।

(३६) विविक्त एकत्वधाम के परिचय का प्रसाद—इस संसारी जीव को अपने विविक्तपने का परिचय हो जाये कि यह विषय प्रकट भिन्न पदार्थ है। रूप, रस, गंध, स्पर्शमय पुद्गल है, अचेतन है, जड़ है, इसे मैं न करता हूँ, न भोगता हूँ, इससे निराला हूँ और जिन इन्द्रियों के द्वारा इन विषयों को अनुभवते हैं ये द्रव्येन्द्रिय भी सब पुद्गल हैं। मैं तो इनसे निराला ज्ञानस्वरूप हूँ। जिन विषयों को हम भोगते हैं ये विषय आफत हैं, जिस विचार के द्वारा हम भोगते हैं ये ज्ञान के खण्ड-खण्ड हैं। यह मैं अपने ज्ञानस्वभाव के खण्ड-खण्ड बनाकर अपना ही विनाश कर रहा हूँ। मेरा स्वरूप तो अखण्ड है, सर्वज्ञता स्वरूप है जो विविक्तता का परिचय करता है, वह विषयभोगों से विमुख हो जाता है, विचारों से विमुख हो जाता है और अपने विशुद्ध ज्ञानस्वभाव में उपयुक्त हो जाता है। यों पर से विविक्त मात्र निज स्वभाव में तन्मय आत्मतत्त्व को अंगीकार करना कि मैं यह हूँ ज्ञानमात्र। जो काम अन्य उपाय से सफल नहीं हो सकते वे सारे काम इस परम उपेक्षा भाव से सिद्ध हो जाते हैं और सिद्धि वही कहलाती है जहाँ इच्छा नहीं रहती। ज्ञान को कल्पवृक्ष कहा है। यह आत्मा कल्पवृक्ष है। जो चाहे सो इससे प्राप्त कर लो। विकार चाहें तो विकार प्राप्त कर लें, अविकार दशा चाहें तो अविकार दशा पा लें। अब उनके व्यामोह है जो इन कल्पवृक्षों से खल के टुकड़ों की भाँति विकार स्थिति को ही चाहते हैं। अद्भुत आनन्द, परम आनन्द अपने अविकार ज्ञानस्वरूप के अनुभव में है। मनुष्यगति में मानकषाय प्रबल होती है। भले ही दुनिया के लोगों को ऐसा दिखता है कि मनुष्यों में लोभ कषाय बहुत चल रही है, लोभ की प्रबलता देवों में है, मनुष्यों में मान की प्रबलता है। जो कुछ ये मनुष्य

करते हैं वह मान के लिए करते हैं। धन क्यों कमाते हैं? इसलिए कि मैं दुनिया में सबसे अच्छा धनी कहलाऊं। केवल इस भावना की पूर्ति के लिए ही अथक परिश्रम करते हैं। घर बसाते, जो भी उद्यम करते, एक अपनी मान पुष्टि के लिए करते हैं। तो यह मान धूल में मिल जायें, इसको चूर कर दिया जाये ज्ञानबल से, प्रयोगबल से, उस प्रकार के आचरण से तो यह भी एक इतनी बड़ी सफलता हो गई कि जिस स्थिति में रहकर हम समरसपूर्ण इस अन्तस्तत्व का अनुभव कर सकें।

(३७) ज्ञानमात्र अन्तस्तत्व को समझने के लिये अकिञ्चनत्व का प्रतिबोध—अपने को समझना है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, एतदर्थ पहिले समझ लीजिए कि मैं अकिञ्चन हूँ। किञ्चन किसे कहते हैं? कुछ, कुछ किसे कहते? जो पुष्ट नहीं, जो सारभूत नहीं उसका नाम है कुछ। कुछ पाया, कुछ देखा, जहाँ तृप्ति नहीं होती, जहाँ पूर्णता नहीं आती, जहाँ समृद्धि का अनुभव नहीं होता उसके संग को कहते हैं कुछ। मैं कुछ नहीं हूँ। मैं गड़बड़ तत्त्व नहीं हूँ। मैं तो अपने आपमें अपने ही ऐश्वर्य से सम्पन्न हूँ। ज्ञान सिवाय मेरे में और कुछ नहीं है। किसी भी अन्य का प्रवेश नहीं है। जो कुछ को चाहता है, जो कुछ के साथ लगाव रखता है उसे वह कुछ भी नहीं मिलता और उल्टी ऐसी चीज प्राप्त होती है कि जिससे उसे घृणा हो जाती है। कुछ के लगाव में विडम्बना बनती है। कुछ भी नहीं मिलता और विडम्बना बन जाती है। यह सब कुछ ही तो है, दृश्यमान संग परिग्रह वैभव यह कुछ ही तो कहलाता है। इसका कोई राग करें, मोह करें तो इस पर तो अधिकार कुछ हैं नहीं कि इसको हम अपने साथ ही रख सकें, और इतनी विडम्बना बन जाती है। दुर्गतियों में परिम्रमण होता है। तो मैं कुछ नहीं हूँ, अकिञ्चन हूँ। कुछ की चाह न करें। एक सेठ की हजामत बनायी नाई ने। तो जब वह नाई छुरा लावे गले के पास, यहाँ भी तो बाल हैं। तो उसे यह शंका हो गई कि यह छुरा गले तक ले आता है, इसके हाथ में ही तो मेरी जान है। अगर इसने जरा भी छुरा फेर दिया तो मेरी जान गई। हालांकि नाई पर कोई ऐसा सन्देह नहीं करता। नाई के ऊपर तो लोगों को इतना विश्वास रहता है जितना कि गुरुओं पर भी नहीं रहता। नाई को तो लोग अपना गला बड़े विश्वास के साथ सौंप देते हैं। कोई भी उनपर अविश्वास नहीं करता। परन्तु उस सेठ को नाई पर यह संदेह हो गया कि कहीं यह मार न दे। तो वह कहने लगा—खवास जी, बड़ी अच्छी तरह हमारी हजामत बनाना, तुमको हम कुछ इनाम देंगे। उसने अच्छी तरह हजामत बना दी। अब इनाम देने का समय आया तो उसने अठनी दी। एक आने में तो हजामत बनती थी, पर उसे क्ष: आने दिए, तो नाई कहने लगा—मैं यह अठनी न लूँगा, मैं तो कुछ लूँगा। रुपया देने लगा तो उसे भी लेने से इंकार कर दिया, अशर्फी देने लगा तो उसे भी मना कर दिया और इस हठ में आ गया कि मैं तो कुछ ही लूँगा। सेठ परेशान हो गया, उसे क्या दे दें? उसे प्यास लगी तो एक आले में दूध का गिलास रखा था। सेठ बोला—नाई जी जरा वह गिलास उठा देना, ज्यों ही उठाया और उसे देखा तो उस दूध में कोई चीज पड़ी हुई थी, समझ में न आ रही थी तो वह झट बोल उठा—अरे सेठ जी इसमें तो कुछ पड़ा है।....क्या कुछ पड़ा है?....हां कुछ पड़ा है?....तो तू उसे उठा ले, क्योंकि तू कुछ ही तो चाहता था। लो उस नाई को कुछ की हठ में क्या मिला?....कोयला। तो ऐसे ही

इन समस्त संसारी जीवों को कुछ की हठ में क्या मिलता है ?....पाप, विडम्बना, पश्चाताप, क्लेश । इस जगत का कोई भी पदार्थ हठ के योग्य नहीं है । सब पदार्थों को कहो कि तुम अपनी सत्ता में रहो, तुम्हारे हाथ दूर से ही जोड़ रहे । तुम अपनी सत्ता का अनुभव करो, तुम भी ठीक रहो, हम भी ठीक रहें ।

(३८) समस्त अनात्मतत्त्वों से विविक्त ज्ञानमात्र निजस्वरूप के अनुभव की संगीति—यह जीव जब समस्त अनात्मतत्त्वों से विविक्त अपने स्वरूप पर आता है तो यहाँ उसे यह अनुभव होता है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ । तो कुछ अन्तर्दृष्टि करके भीतर निहारने चले, इन्द्रिय का व्यापार बन्द करके भीतर परखने चले तो वहाँ न रूप मिलेगा, न रस है, न गंध है, न स्पर्श है, न कोई टुकड़ा है । वह तो एक अमूर्त पदार्थ है । मगर सुसम्वेदन गम्य बात यह है कि वह ज्ञानस्वरूप है । संसार के समस्त द्रव्यों से विलक्षण वस्तु है । जगत के समस्त पदार्थों का सम्राट है यह पदार्थ । यह न हो तो और की सत्ता का भी क्या मतलब? सत्ता का भी कैसे प्रकाश हो कि और भी चीज है अथवा यह बन ही नहीं सकता यदि यह आत्मतत्त्व न हो । कोई कहे कि जगत में केवल ५ पदार्थ मान लो । आफत न मचाओ जीव मानकर । केवल पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये ही ५ मान लो, जीव नामक कुछ नहीं है । ५ हैं, और जीव ही न हो केवल तो पहले यह बताओ कि इस पुद्गल का यह रूप आयेगा कैसे? यह चौकी कैसे बनी जिस पर आप पुस्तक रखे हैं । अगर जीव न हो तो यह चौकी बनेगी कैसे? ये दृश्यमान कोई पिण्ड बनेंगे कैसे? ये पत्थर मिट्टी, कंकड़, धूल वगैरह है और कहो कि ये भी कुछ नहीं हैं तो पुद्गल ही कुछ न रहा । यह बनी ही इस प्रकार कि जीव का सम्बन्ध हुआ और ये आहार वर्गणायें इस रूप में स्पष्ट हुईं, चीज बन गई, नष्ट हुई तो सत्ता जानी, न हो तो पुद्गल का यह रूप कैसे बने? फिर काल द्रव्य कैसे परिणमाये? धर्म अधर्म की बात ही क्या? एक जीव तत्त्व के न रहने पर या न मानने पर सभी का अस्तित्व अप्रतिभास व अप्रयोजन रहा । तो जीव है, जीव में भी सारभूत क्या है? जीवत्व । अन्य सब कुछ न रहे मात्र ज्ञायकत्व हो इसे कहते हैं समयसार । समय मायने समस्त द्रव्य । उनमें जो सारभूत हो उसे कहते हैं समयसार । कौन? जीव पदार्थ । अब जीव पदार्थ में भी जो सारभूत हो उसे कहते हैं समयसार । जो भी पहिचान में आये ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द शक्ति, फिर उनमें भी जो सारलगे वह कहा जायेगा समयसार । सार सार, ज्यों-ज्यों अन्दर में घुसते जायें त्यों-त्यों सार-सार मालूम होगा । अनेक समान हो तो सबका लोप हो जाता है एक शेष रहता है । व्याकरण में भी जब किसी शब्द को बहुवचन में रूप रख देते हैं तो उससे पहले प्रकृति अनेक थी । बहुवचन का प्रत्यय लगने पर एक-एक प्रकृति रहती है । शेष का लोप हो जाता है । तो यह समयसार जो अन्त में सारभूत दिखा, जिसके आगे कल्पना नहीं चलती, जो कल्पना से भी परे है वह है ज्ञानमात्र एकत्वमय आत्मस्वरूप । उसका अनुभव होना । मैं ज्ञानमात्र हूँ मेरे स्वरूप में अन्य का प्रवेश नहीं याने ज्ञान के सिवाय जो कुछ है उस सबका प्रवेश नहीं मेरे स्वरूप में, ऐसा जब मैं देखता हूँ, जो दिखता है वह निर्भार है । उस पर किसी भी प्रकार का बोझ नहीं है । मार्ग तो दिख गया । अब चले बिना उस स्थान पर पहुंच नहीं सकते । तो चलने का उद्यम करना है । मैं ज्ञानमात्र हूँ ऐसा बराबर सोचना, मनन करना और ऐसा ही उपयोग बनाना कि जिसमें अन्य सब विस्मृत हो

जाये और मात्र यह ज्ञानमात्र तत्त्व ही उपयोग में रहे, ऐसे अनुभव में इस जीव पर किसी भी प्रकार का भार नहीं रहता ।

(३९) ज्ञान मात्र अन्तस्तत्त्व की आराधना के प्रसाद से अनन्त आत्माओं को सिद्धि का लाभ—जो भी आत्मा अनन्त सुखी हुये हैं वे सब केवल इस ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व की दृढ़ आराधना के प्रसाद से हुए हैं । मैं ज्ञानमात्र हूँ ऐसी अपने आपके स्वरूप की दृढ़ प्रतीति दृढ़ मग्नता के लिए इस अनादि से विकार में पगे आये हुए पुरुष को जो कठिनाइयाँ होती हैं उन कठिनाइयों के वातावरण को दूर करने का नाम है श्रावकधर्म और मुनिधर्म । चाहे श्रावक हो चाहे मुनि हो, कोई ज्ञानी हो, उद्देश्य एक ही है ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व में उपयोग को स्थिर बनाना । लेकिन कठिनाई आती है संस्कारवश इन्द्रियविषयों के संग में जो विकार को हम व्यक्त कर रहे थे उनका समागम एक कठिनाई है उसको दूर किया श्रावकों ने थोड़ा और पूर्ण रूप से दूर किया मुनियों ने । अब जैसे कोई निरंतराय वातावरण पाकर अपने संयम को कुशलता से निभाता है ऐसे ही गुणी जनों ने एक निरंतराय वातावरण पाया तो काम उनका एक ही रह गया । ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व की आराधना करना, इसके प्रसाद से कितने आत्मा पवित्र हुए? अनन्त आत्मा । निगोद जीव को छोड़कर जितने संसारी जीव है असंख्याते पृथ्वीकाय, असंख्याते जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय नारकी, मनुष्य, देव, पञ्चेन्द्रिय तिर्यच ये सब जितने संसारी जीव हैं, इन सबकी जितनी गणना है उनसे अनन्त गुने हैं सिद्धभगवान । सिद्ध भगवन्तों से अनन्त गुनी संख्या निगोद जीवों की है । तो निगोद के बाद द्वितीय संख्या का नम्बर है तो सिद्ध का । इतने सिद्ध भगवंत जो पवित्र हुए हैं, वे हुए हैं इस ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व की आराधना से । दृष्टि बराबर अपने में ऐसी मनन करने की बनाये कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान ज्ञान ही मैं हूँ । ज्ञान सिवाय मेरे में कुछ नहीं, ऐसा यह ज्ञानमात्र है, इसका कुछ है कहां? इसका कुटुम्ब? बिल्कुल स्ववचनबाधित है । इस ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व का कुछ प्रसंग संग कहां है, क्या है कौन है बाहर का? केवल यह मैं ज्ञान ज्ञानमात्र हूँ, ऐसी आराधना बनाओ ।

(४०) शुद्ध अन्तस्तत्त्व की धुन बिना बड़े-बड़े पुण्यशालियों की भी निरापदता का अभाव—बड़े-बड़े पुण्यशाली जीव जिनके बहुत-बहुत पुण्य माना गया वे भी तब तक कष्ट में रहे जब तक ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व की उपासना में मग्न नहीं हुए । श्रीराम भगवान जिनका चरित्र पद्मपुराण में बहुत वर्णित है पुण्यवान माने गए । नारायण ने बलभद्र की सेवा की हो उसका यह मुख्य उदाहरण है । और जिन्दगी कैसे बीती? उनका बचपन दुःख में बीता, कुछ बड़े हुए तो उस समय की घटनायें देखो, घर आये, राज्य के योग्य हुए, सबसे बड़े ही तो पुत्र थे दशरथ के, जब राज्यपद देने लगे उस समय की बाधायें देखिये । कैकेई रानी ने जब यह देखा कि दशरथ विरक्त हो रहे हैं, भरत भी विरक्त हो रहा है । पति से भी गए, पुत्र से भी गए । तो यह दशरथ तो मानने के नहीं । तब एक जो वर पहले दिया था (रथकुशलता के उपलक्ष में मिला था) उसका वर आपके धरोहर है सो दीजिए ?....हां लो । क्या चाहती हो कैकेई?....बस यही चाहती हूँ कि भरत को राज्य दें । राम से बिगाड़ न था । कैकेई को विवश होकर कहना पड़ा था, और कोई उपाय न सूझा था कि भरत

को वह विरक्त होने से रोक सके। और श्रीराम को राज्यपद मिलते-मिलते हुआ क्या? भरत को राज्य दिया गया। लोग कहते हैं कि सज्जनता उत्तम चीज है, मगर सज्जनता का फल भी कष्ट है अथवा यों कहो कि कष्ट बिना सज्जनता भी नहीं आती। श्रीराम ने सोचा कि मेरे रहते हुए भरत का प्रताप कैसे बढ़ेगा? लोग तो मुझको ही चाहते हैं, आदर रखते हैं। जब तक अयोध्या में रहूंगा तब तक भरत का प्रताप न बढ़ेगा, यह सोचकर श्रीराम जंगल चले गए। देखिये—बुराई किसी में न थी, मगर विपत्ति सभी ने पायी। भरत बड़े भाई के इतने भक्त कि यही मानकर राज्य किया कि राज्य तो श्रीराम का ही है, चरणचिन्ह धर दिये कि यह है राज्य करने वाला। अच्छा, तो बनवास में कोई आराम मिला करता है क्या? स्प्रिंगदार पलंग हों, ये बिजली के पंखे हों, अच्छे महल हों ये कुछ साधन रहते हैं क्या? वहाँ भी दुःख भोगा। भले ही पुण्योदय था, देवों ने सहाय किया, पर मोज की बात तो किसी-किसी दिन थी, सारे दिन तो कष्ट के ही थे। रहे आये रहे आये, एक दिन ऐसा हुआ कि सीता को रावण हर ले गया। उसके पीछे श्रीराम को इतना वियोग कष्ट हुआ कि उनकी बुद्धि उद्घिन हो गई, वे अधीर हो गए, जगह-जगह सीता का पता लगाते फिरे, आखिर युद्ध हुआ। यह एक उनकी विपत्ति की बात कह रहे। भले ही उनके पुण्य का बहुत उदय था, परन्तु एक लौकिक निगाह से देखो तो उनका सारा जीवन दुःख ही दुःख में गया। सीता को रावण से छुड़ाकर वापिस लाये, युद्ध में जीते, फिर एक साधारण धोबी की स्त्री ने कुछ बक दिया—लो सीता को आफत आयी। श्रीराम ने अपनी मर्यादा को कायम रखने के लिए सीता को जंगल में छुड़वा दिया। अरे वह धोबिन तुरन्त ही कह देती तो भी गनीमत थी, पर सालों बाद की घटना थी कि धोबिन ने कुछ बक दिया तो वहाँ श्रीराम ने सीता को जंगल में छुड़वाया। सीता ने जंगल में दुःख सहे, श्रीराम ने वहाँ दुःख सहा। यह वियोग बहुत दिनों तक हुआ। बाद में सीता के पुत्र लव और कुश से श्रीराम का युद्ध हुआ। युद्ध के बाद जब बात मालूम हुई तो सीता को फिर घर लाये। तो श्रीराम के चित्त में मर्यादा रखने की फिर कल्पना उठी। सीता को परीक्षा देने का हुक्म किया। सीता ने स्वयं ही पूछा कि तुम क्या परीक्षा लेना चाहते हो? विषपान करूं या अग्नि में कूदूं या और कुछ बात हो? तो श्रीराम ने सोचा कि विषपान किए जाने पर तो लोगों को विश्वास नहीं हो सकता, वे सोचेंगे कि विष की जगह पर शायद शरबत ही पिला दिया गया होगा। यह सोचकर श्रीराम ने अग्नि में कूदने का आदेश दिया। श्रीराम के चित्त में वहाँ पर भी अनेक प्रकार के विकल्प रहे, पर अन्त में अग्निपरीक्षा हुई और परीक्षा में सीता को उत्तीर्णता मिली। अग्निपरीक्षा हो चुकने के बाद श्रीराम के मन में आया कि अब सीता आराम से घर में रहे, पर सीता के मन में इस प्रकार का कुछ विचार कैसे हो सकता था। वह आर्थिका हो गई। खैर यहाँ और दूसरी घटना देखिये—राम लक्ष्मण का प्रेम सम्बाद सुनकर देवों ने परीक्षा की। श्रीराम मर गए ऐसा वातावरण देवों ने बना दिया, बड़ा रुदन भी सुनाया, जिसे सुनकर लक्ष्मण ने जाना कि राम मर गए। वहाँ उस दृश्य को देखकर लक्ष्मण के प्राण समाप्त हो गए। लक्ष्मण के मरने के बाद श्रीराम ने ५-६ माह तक क्या प्रवृत्ति की? लोगों को यह ख्याल हो गया कि श्रीराम कहीं पागल तो नहीं हो गए। देवों ने कई बार घटनायें दिखायी। पत्थरों पर कमल उगाये गए, सूखे हुए पेड़ को सींचने के दृश्य

दिखाये गए, मरे हुए बैलों को गाड़ी में जोतने का प्रयास दिखाया गया, अनेक घटनायें देखकर श्रीराम को सही ज्ञान जागृत हुआ, ज्ञानाराधना में लगे और मुक्त हुए। जब तक ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व की सुध में दृढ़ नहीं हुए तब तक संकटों से मुक्त न हुए। यह तो श्रीराम की बात कही। एक की ही बात नहीं, सबकी यही बात है।

(४१) मोह और क्षोभ से पूर्ण विषेले जीवन की व्यर्थता—हम आपकी तो स्पष्ट बात है। रात दिन के चौबीसों घंटे करते ही क्या हैं? सब विडम्बना, सब मूढ़ता, बेकार की बातें। रागद्वेष मोह विरोध, यहाँ वहाँ की बातें, जिनसे कुछ सम्बंध ही नहीं। कितनी विडम्बना हम रात दिन किया करते हैं। जो कल सुबह किया सो आज किया, सो ही पचासों वर्षों से करते आ रहे, जो दोपहर को किया सो अब किया। ५ इन्द्रिय और मन का विषय इनको ही रोज-रोज भोगते रहते हैं, रोज खाया, रोज छोड़ा। तीनों लोक में ऐसा कौनसा पुद्गल है ग्राह्य जिसे जीव ने अनेक बार ग्रहण न किया हो। अनेक बार ग्रहण किया अनेक बार छोड़ा तो ग्रहण करके छोड़े हुए को तो जूठा कहा करते हैं। हम आप रोज-रोज क्या करते हैं? वही भोजन रोज खाते। रोज के इन्द्रियविषय वही रोज सेवन करते। भ्रम बना लिया है कि ये जो मेरे लड़के हैं सो मेरे हैं और बाकी दुनिया के जो जीव हैं सो गैर हैं। फल क्या होता है? इसे कहते हैं कूपमण्डूक। उसी सीमा में हमारे विचार डोलते रहते हैं और उससे ममता पुष्ट होती रहती है। अरे राग करो तो खूब करो, पर एक बात तो मान लो कि राग करो तो सब पर करो। सारे अनन्त जीवों को छोड़कर दो चार जीवों पर राग करने का परिणाम बहुत भयंकर है। सब परमात्म स्वरूप नहीं हैं क्या सब जीवों में उस स्वभाव को देखो, श्रद्धा सही रखो, कर्तव्य का प्रोग्राम सही रखो, और यह तो परिस्थिति है कि जो एक ऐसा हो गया है कि भाई हम इस घर के ६-७ जीवों की सम्हाल करें, तुम इस घर के ६-७ जीवों की सम्हाल करो, यह इस घर के ६-७ जीवों की संहाल करें। यह बंटवारा हो गया। लो सब मनुष्यों की अच्छी व्यवस्था हो गई। यह तो एक परिस्थिति वश ऐसा हो रहा, ऐसा जानियेगा, पर जैसा मेरा स्वरूप है वैसा ही सब जीवों का है। जैसे आपके घर में रहने वाले जीव हैं वैसे ही सब जीव हैं। सबमें परमात्मस्वरूप के दर्शन करें। यदि यह प्रकृति बन जायें कि किसी से भी बोलें, नौकर हो तो, मजदूर हो तो, एक बार यह स्मरण कर लें कि इनमें भी परमात्मस्वरूप है। बात व्यवहार करें, हुक्म भी दें, पर उसमें परमात्म स्वरूप का स्मरण हो जायें और फिर आप जो वाणी बोलें तो उसे वह फिर भगवान की वाणी जैसा समझेगा, आपकी रुचिपूर्वक आज्ञा मानेगा। आप प्रसन्न होंगे, दूसरा भी प्रसन्न होगा और जहाँ उस परमात्मतत्त्व को भूल गए, आज्ञा देने वाला भी क्लेश में है और आज्ञा लेने वाला भी क्लेश में है। तो आज्ञा देने वाला गर्व से आज्ञा देगा, दूसरों को तुच्छ समझकर देगा, दूसरा अपने में तुच्छता का अनुभव करता हुआ लेगा। आज्ञा देने वाला भी दुःखी और आज्ञा लेने वाला भी दुःखी। कहीं यह न समझना कि जिन पर हुक्म चलता है दुःखी वे ही हैं। उनसे भी अधिक दुःखी हुक्म देने वाला होता है। आज्ञा लेने वाले को क्या? छोटा सा कर्तव्य, जो कहा सो कर दिया, किन्तु आज्ञा देने वाले पर कितना भार है? सब सम्हालें, यह भी न बिगड़े, यह भी काम चले, यह भी बने। मतलब

यह है कि संसार में सबको क्लेश है ।

(४२) शाश्वत आनन्द के प्रयास में विवेक—जो अपने परमात्मस्वरूप का दर्शन करें और दूसरे जीवों में जो परमात्मस्वरूप का स्मरण करें ऐसा उदार विशाल हृदय जिसका हो गया है वह धर्ममूर्ति, वह भव्य जीव बात-बात में स्वयं भी प्रसन्न है और दूसरा भी प्रसन्न रहता है । संसार में कोई अपना गड़बड़ बनाने का काम नहीं पड़ा है, यहाँ से तो बिस्तर बंडल बोरिया सब छोड़कर जाना ही पड़ेगा । धर्मदर्शन का नाता सच्चा नाता है, बाकी सर्व संग का नाता यह मेरे आत्मा के लिए हितकारी नाता नहीं है । बड़े-बड़े चक्री हुए, इतिहास में बड़े-बड़े राजा हुए—चन्द्रगुप्त, सेल्यूक्स, जहांगीर वगैरह, जिन्होंने अपने-अपने जमाने में बड़े-बड़े किले बनवाये, महल बनवाये, तो उसका क्या फल हुआ? हम अपने आपमें इस ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व की भावना को दृढ़ बनायें तो यह है सर्वसिद्धि । आनन्द बात में नहीं, न वाणी में है, न सुनने में है । एक अंदाज भर कर लो कि जिस बात के सुनने को भी कुछ आनन्द सा आता है । जिस बात के बोलने में भी आनन्द सा होता है, उसके प्रयोग में कितना आनन्द होगा । बात स्पष्ट सही सीधी है । प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, निरन्तर उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त है, किसी का अस्तित्व किसी अन्य की दया पर नहीं है, ऐसी स्वतंत्रता ऐसा सत्त्व जब है तो हमें क्या अधिकार है कि मैं झूठ मूठ ऐसा समझ लूँ कि यह तो मेरा ही है । यह तो मेरे ही अधिकार में है । यह पुत्र, यह घर, यह स्त्री, यह पिता ये सब मेरे हैं ऐसा मानने का हम को अधिकार नहीं है । व्यवहार की बात व्यवहार में है, लेकिन श्रद्धा में हम नहीं कह सकते कि मेरा कौन है । “जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय । घर सम्पति पर प्रकट ये, पर है परिजन लोय ।” इस जीवन में तो हम आप हिसाब बनाते हैं, ऐसा काम कर लें कि बाकी जिन्दगी सुख में गुजरे, इतनी दुकान बना लें, इतनी आये कर लें, फिर बैठे-बैठे सुख से जिन्दगी कटेगी । ऐसा हो नहीं पाता, किसी के भी नहीं हुआ, क्योंकि कषायें दूर हों तब शांति मिले । कषायें तो और बढ़ती जाती हैं, पर सोचते जरूर हैं ऐसा सभी लोग कि ऐसा कुछ काम बना लें कि बाकी जीवन बड़े सुख में बीते । अच्छा थोड़ा बना लिया । अब मरने के बाद जहाँ जन्म लेंगे वहाँ का क्या प्रोग्राम बनाया? यहाँ कुछ जबरदस्ती थोड़ा बहुत कुछ मान भी लिया, पर मरने के बाद, इस देह को छोड़ने के बाद जो दूसरी देह मिलेगी उस जीवन के लिए क्या किया? क्या करें? मरकर अगर यहाँ मक्खी मच्छर बन गए तो क्या धर्म, क्या जैनशासन? सबसे हाथ धो बैठे? देखिये—परलोक है, हमारी सत्ता है, हम पहले से हैं, हमेशा तक रहेंगे क्योंकि हम हैं, यह ही सबसे बड़ा भागी प्रमाण है । हम हैं इसलिए अनादि से हैं और अनन्तकाल तक हैं । किसी की भी अजीव के साथ कोई कल्पना ही नहीं बन सकती । है तो उसका अभाव हो ही नहीं सकता । भले ही परिणतियां बदले, कुछ से कुछ श्रद्धा बने, मगर अभाव नहीं हो सकता । हम हैं तो सदा रहेंगे । जब मुझे सदा रहना है, अनन्त काल तक रहना है तो कैसे हमें रहना चाहिए, यह भी तो ध्यान में लाये ।

(४३) ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व के अनुरूप प्रवर्तन में उभयलोक में समृद्धि—दो पुरुष विवाद करने लगे । एक परलोक को मानने वाला और एक परलोक को न मानने वाला । कुछ विवाद के बाद इस बात पर आये कि

भला परलोक न मानने वाले भाई यह तो बताओ कि हिंसा, झूठ, चोरी आदिक पाप करके इस जीवन में सुखी रह सकते हो क्या? बोला कि नहीं रह सकते। तो इस जीवन में भी सुखी रहने के लिए सदाचार चाहिए ना और यदि परलोक निकल आया तो सदाचार के प्रताप से वहाँ भी क्या बाधा आयेगी? और जो परलोक नहीं मानते वे यहाँ स्वच्छन्द रहते तो यहाँ भी दुःखी और परलोक निकल आया तो वहाँ भी दुःखी। अनेक मनुष्यों का जाति स्मरण सुना जाता है वह परलोक का ही तो साधक है। बच्चा उत्पन्न होता है तो भले ही धाय अथवा माँ बच्चे को मुखस्थान से लगा दे मगर दूध का गुटकना, पेट में ले जाना यह बात सीखने में तो बहुत समय लगता, मगर वह तो तुरन्त गुटक जाता। संस्कार था उसके पूर्वजन्म का। आहार संज्ञा का संस्कार था। जो सत् है उसका अभाव नहीं, हम हैं तो हमारा अभाव नहीं। अब हम को सदा के लिए सुख शान्ति मिले ऐसी कोई बात सोचे तो भली है कि बुरी? केवल एक जीवन के ही सुख की बात सोचना और आगे का कुछ भी ख्याल न रखना यह तो भला नहीं है। इस भव में भी सुखी रहो, आगे भी सुखी रहो और सदा के लिए सर्व झगड़ों से मुक्त होकर सदा के लिए शान्त हों ऐसा ही उपाय करने में भलाई है। मोह करने पर भी कौन-सी सिद्धि बना लेते हैं। न करें मोह, घर में रहे तो भी है तो वह ही पुत्र, मित्र, स्त्री, क्या टोटा पड़ा? बल्कि मोह करने से टोटा है। मोह में पुत्र स्वच्छन्द बन जाये, खुद खराब हो जाये, क्योंकि मोही पिता का पुत्र पर प्रभाव नहीं रह सकता। मोह में लाडला बन गया। पुत्र को कोई भय नहीं रहता और पिता से कैसा ही पेश आ सकता है और निर्मोह हो पिता, अपने भावों में अज्ञानरहित हो पिता तो पिता की प्रवृत्ति भी ठीक रहेगा और पुत्र भी बड़ी आज्ञा और नम्रता में रहेगा। मोही पुरुष का प्रभाव उत्तम नहीं होता परिवार में, किन्तु निर्मोह पुरुष का प्रभाव परिवार में उत्तम होता है। तो निर्मोह रहने में इस जीवन में भी आनन्द पाया और आगे भी आनन्द पाया। वह निर्मोहता कैसे प्रकट हो? उसका उपाय है वस्तुस्वरूप को ही समझकर अपने को सही स्वरूप में अनुभव करना। मैं ज्ञानमात्र हूँ।

सभी महर्षि संत दार्शनिकों ने चाहा तो यह होगा कि जो कल्याण का मूल साधन है ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व का अनुभव उसके ही विषय में बात की होगी। लेकिन जब एक कान से दूसरे कान में बात जायें। दूसरे से तीसरे में जाये। हजार कानों तक यों पहुंचे तो बात कुछ से कुछ बन सकती है। यह भी ऐसा होता है और फिर कहने वाले का आशय कुछ हो और सुनने वाले का आशय कुछ हो तो वहाँ विपरीत बात तो आ ही जाती है। वहाँ तो था ज्ञान मात्र अंतस्तत्त्व के अनुभव का, वहाँ किसी को मालूम हुआ कि वहाँ फिर रहना क्या है? जैसे कि लोग पूछते कि भगवान तीनों लोक को जानते तो वे बेकार जानते। अरे उनसे आधा ही ज्ञान हमें होता तो हम कितना ही धन कमा डालते। समझ जाते कि इसका भाव बढ़ेगा तो पहले ही खरीदकर रख लेते और उससे फायदा उठा लेते। तो भाई यह संसार ऐसा ही है, यहाँ वैभव उसको ही अलौकिक मिलता है जो वैभव से अलिस रहता है। जो छाया को पकड़ने चलता है छाया उससे दूर ही भागती है। जो छाया से विमुख होकर चलता है, छाया उसके पीछे चलती है, और फिर तीनों लोक का भी वैभव मिल जायें तो भी आनन्द न आयेगा, और एक सर्व विविक्त ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व का दर्शन होगा तो

अलौकिक आनन्द जगेगा । छोटे-छोटे बच्चे तो किसी रेतीले स्थान पर रेत को अपने पैर पर रखकर उसे थपथपाते हैं, उससे पैर निकालकर एक घरसा बना देते हैं और कहते हैं कि मेरा घर बन गया । उस घर को अगर दूसरा लड़का मिटा दें तो लड़ाई ठन जायेगी और जिसने वह घरबूला बनाया, अपने पैर पर रेत चढ़ाकर जिसने वह घर बनाया वह बच्चा अपनी ही लात से अपना घर मिटाता है तो खुश होकर मिटाता है । तो अज्ञान से हमने अपना एक घरबूला बनाया, मिथ्या भ्रमपूर्ण एक जाल बनाया तो हम ही क्यों न प्रसन्न होकर इस जाल को एक लात से उड़ा दें । मिटना तो है ही । दूसरा मिटायेगा तो तकलीफ पायेगा । दूसरा न मिटाये, उससे पहले खुद ही मिटा डालें तो आनन्द मिलेगा । यह ही तो हो रहा है । जन्म लिया, मरण करते हैं, करना पड़ता है, दूसरा मिटाता है यह खुद नहीं मिटाना चाहता, आयु का क्षय होता, मिटाना पड़ रहा, फिर संयोग होता, फिर वियोग होता, ये सब बातें चल रही हैं । तो रोज के वियोग जीवन के वियोग में ज्ञानबल से इन सबसे न्यारा अपने को समझ लूं अभी तो वियोग हो गया, मगर परवश होने वाला वियोग उस क्लेश में है और सुवश वियोग कर लेवे अपने ज्ञानबल से सबसे निराला ज्ञानमात्र ज्ञानस्वभाव अपने परमात्मस्वरूप में आ जाये तो वियोग हो गया सबका । तो अपनी बुद्धिबल से ऐसा कोई वियोग बनाये तो उसमें तो प्रसन्नता है, आनन्द है, यह अभ्यास रोज-रोज करने का है । धर्म के लिए और काम करने को है क्या? केवल विभक्त एकत्र चैतन्यस्वभाव के आश्रयण का यह ही काम करने का है ।

(४४) अन्तस्तत्त्व के लक्ष्य को न भूलकर आवश्यक कर्म करने का अनुरोध—इस स्वभाव के आश्रय के करने में हमारा साहस नहीं होता, हमारी रुचि नहीं होती, हम सफल नहीं हो पाते तो भी धुन यह ही बनावें और सफल होने के साधन बनायें, वह साधन है देवदर्शन, स्वाध्याय, सामायिक आदि । करने योग्य काम एक ही है । ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व की प्रतीति और उस ही में उपयोग की स्थिरता । तब ये कहने मात्र को थोड़े ही हो जाते हैं । वहाँ शंकायें करते हैं तो उसका साधन है यह सब । देवदर्शन, श्रावक के ६ कर्तव्य । उन पटकर्मों को करते हुए में उद्देश्य न भूलें तब तो सही काम बनेगा नहीं तो कई बातें विडरूप हो जायेंगी । जैसे एक सेठ ने अपनी लड़की की शादी में जीमनवार की, पातल परोसी, पत्ते के पातल । मिठाइयां बनवायीं, वे भी परोसी । और, साथ में यह सोचा कि ये सब जीमने वाले लोग हमारी पातल में खा जायेंगे और हमारी ही पातल में छेद कर जायेंगे । दाँत खरोंचने के लिए उस पातल में से सींक निकालते हैं । जिस पातल में खाया उसी पातल में छेद भी किया यह आदत है सबकी । तो सेठ ने सोचा कि जहा इतनी-इतनी मिठाइयां वितरण कर रहे हैं वही एक-एक सींक भी धर दे सो चार-चार अंगुल की सींक भी साथ में परोस दी ताकि लोगों को पातल में छेद न करना पड़े । खैर उस जीमनवार के बाद सेठ तो गुजर गया । उसके बाद उसके लड़के ने अपनी लड़की का विवाह किया । वहाँ उसने सोचा कि मैं अपने पिताजी से भी अधिक अच्छे ढंग से विवाह करूँगा । पिताजी ने दो तीन प्रकार की मिठाइयां बनवायी थीं तो मैं ५६ प्रकार की बनवाऊँगा और पिताजी ने चार अंगुल ही सींक परोसी थी, हम १ विलास्त की डंडा परोसेंगे । खैर उसने कई तरह की मिठाइयां भी परोसवायीं और साथ ही एक-एक बेथा का एक-एक डंडा भी परोसवाया । तो

देखिये वहां चार अंगुल की सींक के परोसने का उद्देश्य न जानकर एक-एक बेथा का डंडा परोसने की नौबत आ गई । तो भाई षट्कार्यों को करते हुए में अपना उद्देश्य न भूलें । उद्देश्य भूल भूलकर की जाने वाली समस्त चेष्टायें विडम्बना का ही कारण बनती हैं ।

(४५) आत्मस्वरूप की ज्ञानधनता—मैं ज्ञानधन हूँ, स्वरूप द्रष्टा, अपने आपमें मनन कीजिये कि मैं ज्ञानधन हूँ, धन का अर्थ है ठोस, वजनदार नहीं, किन्तु ठोस । भले ही ठोस होने के कारण स्कंध वजनदार होता है लेकिन धन का अर्थ वजनदार नहीं, निरन्तर वही-वही होने का नाम धन है । जैसे कहते कि यह लकड़ी ठोस है, सारभूत है, तो उसका अर्थ यह है कि इस लकड़ी के बीच कोई अन्य चीज नहीं, वह लकड़ी लकड़ी ही है, यों वह ठोस है । तो यह आत्मा ज्ञानधन है, ज्ञान से ठोस है अर्थात् यह ज्ञान ही ज्ञान निरन्तर है, स्वभाव, सहज ज्ञानभाव प्रति प्रदेश में निरन्तर है । जैसे जल से भरे हुए कलश में बीच में बिन्दु मात्र भी जगह खाली नहीं, किन्तु ठोस है पानी से । जैसे कलश में चने भर दिए जाये तो वही ठोस नहीं है, बीच-बीच में अन्तर है । जल भरा हो तो अन्तर नहीं रहता । जल भरे हुए कलश को लोग क्यों सगुन मानते हैं कि जलपूर्ण कलश ज्ञानधन आत्मा की याद दिलाने में उदाहरण भूत है । जैसे यह जल भरा कलश भीतर में बीच में ठोस है, एक प्रदेशमात्र भी जल से शून्य नहीं है, जल भरा रहता है, यों ही यह आत्मा ज्ञानधन है । पहली बात बतायी थी कि मैं ज्ञानमात्र हूँ । और अब बताया जा रहा है कि मैं ज्ञानधन हूँ । विरोध दोनों में नहीं है, पर एक विधि का अन्तर है । ज्ञानमात्र हूँ ऐसा कहने में यह आया कि मैं ज्ञानमात्र हूँ । इसमें और कुछ चीज नहीं है, और ज्ञानधन कहने में यह आया कि यह कोई असार बेहोश वस्तु नहीं है, अधूरी नहीं है, किन्तु यह परिपूर्ण ज्ञानधन है, इसी कारण यह अपरिपूर्ण नहीं है । लोग अपने को यह अनुभव करते कि यह मैं पूरा नहीं बना, अधूरा हूँ, लेकिन देखो स्वभाव को यह कहीं अपूर्ण है ही नहीं सर्वत्र पूर्ण है । सर्वस्थितियों में पूर्ण है, सर्वदा पूर्ण है, जो अपूर्ण हो वह सत् ही नहीं है । कोई भी सत् अपूर्ण नहीं होता । किसी द्रव्य की सत्ता आधी हो पायी हो और आधी होना बाकी हो, ऐसा कहीं नहीं है । जो है सो पूर्ण है । पूर्ण था, पूर्ण रहेगा, लगातार पूर्ण ही पूर्ण है । मैं आत्मा ज्ञानधन हूँ, ज्ञान से परिपूर्ण हूँ ।

(४६) अपूर्णता व पर में कृत्यता का अभाव होने से ज्ञानधन अन्तस्तत्त्व में कष्ट का अनवकाश—मोह में जो लोग अपने को अधूरा समझते हैं उनको कुछ करने को पड़े का विकल्प है और जिनको कुछ करने को पड़ा हो उनको चैन नहीं है, शान्ति नहीं है, आगम नहीं है, यह सब कल्पनाओं की बात है । वहाँ इस जीव में अधूरापन नहीं, न कुछ आधा किया है । आधा करने को पड़ा हो ऐसा भी नहीं है । तब जो पर्याय होती है वह पूर्ण है । करने को पड़ा क्या? पर मोही जीव की कल्पना में यह बात होती है कि अभी यह काम अधूरा है, इसे पूरा करना है । मोह का विषय है अनेक द्रव्य । एक द्रव्य में मोह उत्पन्न नहीं होता । किसी भी एक द्रव्य को देखें, खालिस द्रव्य को देखें वहाँ मोह ही नहीं हो सकता । स्कंधों में मोह है । यह अनेक द्रव्यों का पिण्ड है, एक द्रव्य दृष्टि में हो तो मोह किस पर करें । और इसीलिए निश्चयनय का महत्त्व भी कल्याण के उपाय में बताया है । वह एक द्रव्य को निहारता है । तो जैसे निश्चयनय एक द्रव्य को निहारने का उपाय

होने से उपयोगी होता तो व्यवहार में भी निषेधमुखेन कि ये विभाव ये नैमित्तिक हैं, औपाधिक हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, यों निषेधमुखेन इन परसम्पर्कों से ज़ुदा करके अपने स्वभाव की ओर आने का अवसर देता है। एनकेन प्रकारेण यह आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव की ओर दृष्टि करें तो इसको मुक्ति का मार्ग मिलता है। मैं परिपूर्ण हूँ, ज्ञानधन हूँ, कोई मकान बना रहा है, बना नहीं रहा, कौन बना सकता? कौन दूसरे पदार्थों की परिणति को कर सकता? किन्तु लोक में दिखता ही है, कहते ही हैं कि मकान बनाया जा रहा है, भीत उठ गई, छत अभी नहीं पड़ी, कहते हैं कि अधूरा पड़ा है काम। इसे पूरा करना है। विकल्प में माना कि ऐसा-ऐसा हो इसे पूरा कहते हैं। ऐसा हो नहीं पाया तो यह अधूरा है, पर वहाँ सभी पदार्थों में परिपूर्णता है। भीत वहीं हैं, भीत में जो अणु है जहाँ जो भी पदार्थ है, किसी की आधी सत्ता नहीं, समस्त परिपूर्ण हैं। मोही ने सोचा कि ऐसा होना चाहिए इतना सम्बंध और इतना संयोग, और उसके न होने को अधूरा कहते हैं। ज्ञानी को बाहर में कुछ करने को पड़ा ही नहीं है, क्योंकि उसने निर्णय किया है कि समस्त पदार्थ परिपूर्ण हैं। परिपूर्ण पूर्ण पर्याय को निरन्तर उत्पन्न करता रहता है। मेरे करने को बाहर में कुछ पड़ा ही नहीं है। देखिये सबको शान्ति मिलती है इसी भाव के आधार पर कि मेरे करने को कुछ पड़ा नहीं है। करने पर भी करने के भाव में शान्ति नहीं है, किन्तु करने को अब कुछ नहीं है इस भाव में शान्ति है। मोह में लग रहा यों कि काम करने से शान्ति होती है, पर जिसको जब भी जितनी शान्ति मिली उसको ‘‘मेरे को कार्य नहीं है’’ इस भाव से शान्ति मिली है मकान पूरा बन चुकने पर जो एक शान्ति का अनुभव कर रहा, हो गया काम। कोई भी कार्य पूर्ण कर लेने पर उसको शान्ति का अनुभव होता है वह शान्ति कार्य करने से मकान बनाने से नहीं है। जब यह भाव आया कि अब वह कार्य करने को नहीं रहा तब शान्ति मिलती है, और जब तक चित्त में यह बात बनी थी कि अभी काम करने को पड़ा है तब तक अशान्ति थी। इसमें उसने काम करने के बाद एक भाव बना पाया कि मेरे करने को अब काम नहीं है। ज्ञानी मुनि संत साधु काम को छुवे बिना ही पहले से ही यह भाव रखते हैं कि मेरे को बाहर में कुछ काम करने को नहीं है।

(४७) कृतकृत्यता के भाव में शान्ति का लाभ—शान्ति मिलती है सबको कृतकृत्यता के भाव में। एक मित्र का पत्र आया कि हम १० बजे की रेलगाड़ी से इस नगर से गुजर रहे हैं सो आप हमें स्टेशन पर आकर मिले। मित्र का पत्र देखकर उसको उससे मिलने की जबरदस्त उत्कंठा हुई। मिलना है, मिलना है। रोज ८ बजे तक नींद लिया करते थे, पर उस दिन वह इस उत्कंठा से काम कर रहा था कि हमें मित्र से मिलने जाना है। इस भाव से वह ६ ही बजे जग गया। सब काम जल्दी-जल्दी करने लगा। नहाना, नाश्ता करना और जल्दी ही स्टेशन पहुंचना। वहाँ पूछा कि यह ट्रेन किस समय आ रही है? तो वहाँ बताया कि उस ट्रेन का तो १० बजे आने का समय है पर आज १५ मिनट लेट आ रही है, लो यह बात सुनकर वह कुछ रंज में आ गया। आज उस ट्रेन पर उसे करुणा उत्पन्न हो गई, दुःख मानने लगा—हाय लेट है, रोज-रोज यह बात उसे न आ पाती थी, क्योंकि उसे काम करने को पड़ा है ऐसा मन में भाव है। गाड़ी आयी, सभी डिब्बों में दृष्टि लगाया। जिस डिब्बे में वह मित्र बैठा था उसमें पहुंचा वहाँ मिला और

एक आराम पाया, शान्ति पायी । थोड़ी ही देर बाद वह मिलने वाला शख्स खिड़की से झाँकने लगा । उतरने की सोचने लगा । कहीं गाड़ी चलने को तो नहीं है, गार्ड ने कहीं सीटी तो नहीं दी, कहीं हरी झंडी तो नहीं दिखा दी । अब यहाँ बात पूछते हैं कि भाई मित्र से मिलने पर अगर आराम मिला है, शान्ति मिली है तो फिर मित्र से मिलने का काम क्यों छोड़ते हो? तुम्हें शान्ति ही तो चाहिए । मित्र से मिलने में शान्ति मिले तो मित्र से मिलते ही रहो । फिर उससे बिछुड़ने की बात क्यों सोचते? उस गाड़ी से उतरने की बात क्यों पूछता? मालूम होता है कि उसे मित्र से मिलने की शान्ति न थी । शान्ति थी इस भाव की कि अब मेरे को मित्र से मिलने का काम नहीं रहा । मन में यह भाव आया कि अब मेरे को मिलने का काम नहीं रहा इसकी शान्ति थी । मित्र से मिलने की शान्ति न थी । प्रत्येक कार्य की ऐसी ही बात है । पञ्चेन्द्रिय के विषयों को भोगता है जीव और उसमें सुख साता का अनुभव करता है । इन विषयों के भोगने से किसी को शान्ति नहीं मिलती, किन्तु अब मेरे को यह विषय भोगने का काम नहीं रहा, इस प्रकार का जीव में ज्ञान बना, इस ज्ञान से शान्ति मिली । शान्ति मिलती है कृतकृत्यता के भाव से ।

(४८) तत्त्वज्ञान में कृतकृत्यता का दिग्दर्शन—मैं ज्ञानघन हूँ, परिपूर्ण हूँ । मेरे को करने के लिए कुछ नहीं पड़ा है । समग्र वस्तु क्या है? स्वयं उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है । उनमें उनके ही कारण उत्पाद व्यय चलता रहता है । कोई किसी की परिणति कर सकता नहीं । मैं अपने मैं अपना उत्पाद व्यय करता हूँ । समस्त पदार्थ अपने मैं अपने आप अपना उत्पाद व्यय करते हैं । मेरे करने को कहां क्या पड़ा है? मैं कुछ कर ही नहीं सकता बाहर । तो मेरे करने को बाहर मैं कुछ काम नहीं, इस भाव की शान्ति है ज्ञानी पुरुष को । और कृतकृत्यता भी इसी में प्रकट है । हम अपनी रात दिन की घटनाओं में यह ही तो खोजे कि जब मेरे को शान्ति मिलती है तो किस ढंग से मिलती है? करने की भावना से शान्ति नहीं, किन्तु करने को कुछ नहीं पड़ा है इस भावना से शान्ति है । खूब परीक्षा कर लो अपनी सारी बातों की । भोजन करने पर जो शान्ति का अनुभव करते तो वहां पर भी बहुत निर्णायक दृष्टि से देख लो, भोजन करने से शान्ति नहीं मिली, किन्तु भोजन कर चुकने पर जो यह भाव बना कि अब मेरे को भोजन करने का काम नहीं रहा उसकी शान्ति मिली । यह बात समझना कुछ कठिन होगी, क्योंकि सबको भूख लगती है । खाते हैं और पेट भरने पर ही आराम कर पाते हैं । भूख में कोई आराम मानता ही नहीं । तो न माने, किन्तु तथ्य यही है कि मेरे करने को अब कुछ नहीं रहा, शान्ति इसकी है, अन्यथा अनेक दिनों का उपवास करने वाले मुनिजन साधु संत कैसे शान्त हैं? बिना भोजन किए ही उनका यह निर्णय चल रहा कि मेरे करने को कुछ नहीं पड़ा, भोजन करने का कार्य मेरे को नहीं पड़ा, उसके शान्ति है । यह एक कठिन उदाहरण है भोजन का, पर अन्य उदाहरण से बहुत सुगमतया जान लेंगे कि हां जब भी शान्ति मिलती है तो काम नहीं रहा, मेरे करने कार्य नहीं पड़ा, इस भाव की शान्ति मिलती है । और इस तरह भी समझ सकते हैं कि यह मनुष्य किसी विषय के बाद किसी को भी देखने सुनने पर यह अपने मैं किस विधि से शान्ति का अनुभव करता और कैसे यह अपने मैं तृप्ति लाता है, जैसे मानो निपट गया, उससे उपेक्षा हो गई, अब उस ओर दृष्टि भी नहीं करता, ये विधियां बन जाती हैं जब

कि वह शान्ति का अनुभव करता है। यह है एक शान्ति की विधि की बात।

(४९) भोगत्याग बिना समृद्धि की असंभवता—भैया! अब थोड़ा यह देखें कि इस जीव को ये भोग इसके उत्थान के कारण हैं या शान्ति के कारण हैं या भोग से क्या उद्धार है? देखो—भोग के त्यागे बिना भोग भोगने का भी सामर्थ्य नहीं रहता। खाने का त्याग करने के बाद ही इसको खाने का आनन्द आता है। खाते ही रहे, खाते ही रहे, ऐसा अगर यह अपना कुछ समय गुजारे तो यह खाने के लायक भी नहीं रहता। किसी भी इन्द्रिय विषय का त्याग हुए बाद ही उस इन्द्रियविषय को भोगने का सामर्थ्य पाता है और उसमें पूर्ति कर पाता है। कोई सिनेमा को देखता ही रहे तो वह ऊब जायेगा, थक जायेगा, उसका त्याग करे कुछ समय को, भले ही १५-२० मिनट बाद फिर सनीमा में पहुंच जाये, मगर कोई सनीमा देखता ही रहे, ऐसा कोई नहीं कर सकता। भोगता ही रहे, भोगता ही रहे, ऐसा कोई नहीं कर सकता। त्याग बिना भोक्ता भी नहीं बन पा सकता। त्याग करके ही कोई भोग का सुख पा सकता है, और यदि कोई सदा के लिए त्याग कर दे तो उसके सुख का क्या कहना? अद्भुत सुख होगा। मैं ज्ञानघन हूँ, ज्ञान से भरा हुआ हूँ, परिपूर्ण हूँ। मेरे को कुछ काम ही नहीं पड़ा, ऐसा जहाँ विश्वास है उसे अपने आप धैर्य है, अपने आप समता है और शान्ति का अनुभव है। इसके विरुद्ध जिसमें यह भावना लग रही है कि मैं तो अधूरा हूँ, मेरे को तो बहुत काम है, उससे निरन्तर बेचैनी है। तो देखना है अपने आपको कि मैं ज्ञानघन हूँ।

(५०) ज्ञानघन अन्तस्तत्त्व में अपूर्णता न होने से क्रियाव्यग्रता का अभाव—भैया! लगता होगा ऐसा कि यह आत्मा मैं तो शून्य हूँ। इसमें कुछ रखा ही नहीं है, कोई ठोस की बात ही नहीं है। जैसे कोई भी द्रव्य गैर ठोस नहीं होता। बताओ आकाश पोला है कि ठोस? आकाश भी पूरा ठोस है, पोला जरा भी नहीं है। आकाश का जो स्वरूप है, आकाश के जो प्रदेश हैं उनमें निरन्तर आकाश बराबर ठोस पड़ा हुआ है। हम दूसरे द्रव्य नहीं हैं। ऐसा निरखकर सोचना है कि आकाश पोला है। पर आकाश का जितना स्वरूप है उसमें आकाश निरन्तर बना हुआ है, वह घन है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें परिपूर्ण है, ठोस है। धर्मद्रव्य उससे स्वरूप में वह अपने आपमें ठोस है। यह मैं आत्मा अपने स्वरूप से अपने आपमें ठोस हूँ। निरन्तर ज्ञान ही ज्ञान समाया हुआ है। पोला हो तो कुछ जरूरत भी हो कि उसका पोल भरना है। जब मैं ज्ञानघन हूँ, ऐसा होने की गुंजाइश ही नहीं कि इसमें कोई चीज समा सके तो उसमें करने को क्या पड़ा फिर, लेकिन जिसको अपने ज्ञानघन स्वरूप की सुध नहीं वह अपने को सर्वत्र असहाय, दीन, कायर अनुभव करता है और विषयों से सुख की आशा लगाये फिरता है, और इसी कारण कष्ट विपत्ति उपसर्ग उपद्रवों से भी घबड़ाया रहता है।

(५१) पर में इष्टत्व के भ्रम में अशान्ति—लोक में ऐसा कोई पुरुष नहीं जिस पर बाहरी संकट नहीं आया, उपद्रव नहीं आया। चाहे वह धनी हो, चाहे वह ज्ञानी हो, लोक दृष्टि से भी सब पर वियोग आयेगा, सब पर अनिष्ट संयोग होते, सबको शरीर में वेदना भी होती और ऐसा लगाव रखते हैं कि ये दुःख तो अपने आप मोल लिए रहते हैं। सब पर उपद्रव आयेंगे। यदि दुःखी नहीं होना है तो अभी से ज्ञान को सम्हाल

रखना चाहिए, वियोग सबका होगा । पुरुष स्त्री है, ये क्या चिर काल तक (अनन्त काल तक) साथ रहे आयेंगे? कुछ ही वर्ष का तो साथ है । कोई तो बिछुड़ेगा पहले । पुरुष बिछुड़ेगा तो स्त्री दुःख मानेगी, स्त्री बिछुड़ेगी तो पुरुष दुःख मानेगा । बिछुड़ना तो निश्चित है । पिता पुत्र का सम्पर्क है, बिछुड़ेगा तो कभी । उपद्रव तो आयेंगे ही लोक के । अब यदि इनमें कष्ट नहीं मानना चाहते तो इसका उपाय सिवाय ज्ञान के और कुछ नहीं है । सही ज्ञान हो तो कष्ट नहीं रहता, मिथ्याज्ञान हो तो कष्ट हो जाता है । छोटी-छोटी बातों में भी यह बात पायेंगे । विवाह शादी बारातों में हजारों रूपये की बारूद आतिशबाजी वगैरह में फूंक दी जाती है, उसका कुछ भी खेद नहीं मानते और कोई २ रूपये की कटोरी गुम जाये तो उसका खेद मानते हैं, यह फर्क आता है । कहां तो दो रूपये की कटोरी जिसके गुमने का खेद मानता और हजार रूपये की बारूद यों ही खो दी, पर उसके प्रति रंच भी खेद नहीं मानता । तो यह फर्क यों आया कि उसने हजार रूपये की बारूद के विषय में पहले से ही यह निर्णय बनाये हुए था कि यह तो फूंकने के लिए ही है, यह तो नष्ट करने के लिए ही है । सो नष्ट होने पर कुछ भी खेद नहीं होता, और कटोरी के बारे में सोच रखा यों कि यह तो जिन्दगी भर रहने की चीज है, वह न रही इसका खेद मानता । तो हमारी रोज की घटनाओं में भी यह बात दिखती है कि जहाँ विपरीत ज्ञान बनाया वहाँ क्लेश है और जहाँ अनुरूप ज्ञान बनाया वहाँ क्लेश नहीं । कोई पुरुष इस समस्त संयोग के सम्बंध में यह निर्णय बनाये कि सबका वियोग होगा, सब मिटेंगे, ये मिटने के लिए ही मिले हैं तो मिटने का वह खेद न मानेगा, और जिसने यह बुद्धि बनायी कि ये मेरे को मिले हैं, सदा रहेंगे, इनसे मेरे को फायदा है, हित है, तो कदाचित् वियोग होगा ही, तो उस समय कितना खेद मानता है । सम्यग्ज्ञान के सिवाय कोई अपने को शरण नहीं है । धन वैभव में या किसी संग प्रसंग में जो ममता रहती है कि यह मेरा है, उसके साथ-साथ अनेक विपरीत ज्ञान भी रहा करते हैं अतएव उसको खेद रहता है, और सबसे विवित अपने आपके स्वरूप में तुष्ट इस ज्ञानघन अंतस्तत्त्व में अपनी स्वीकारता हो, हूँ मैं यह, उसको कष्ट न आयेगा ।

(५२) **निजत्वनिर्णय पर भविष्य पर्यायों की निर्भरता**—मैं क्या हूँ, इसके निर्णय पर ही मेरा भविष्य निर्भर है । इस देह को देखकर जो निर्णय बनाया है कि मैं यह हूँ तो उसका भविष्य स्पष्ट है कि उसको संसार मिलते ही रहेंगे । जब शरीर को माना कि यह मैं हूँ तो आखिर यह भी तो भगवान है, शरीर को चाह रहा है तो शरीर मिलते ही रहेंगे । अब यह बात दूसरी कि शरीर पाने में कष्ट है, क्लेश है, पर इस प्रभु में हम आप संसारियों की बात कह रहे हैं । देह को चाहा, देह में लगाव रखा तो धड़ाधड़ देह मिलते चले जायेंगे और देह से निराला ज्ञानघन अपने आपको सोचना कि मैं तो ज्ञानघन हूँ तो उसका ज्ञाता दृष्टा रहने का भविष्य बन जाता है । ज्ञाता दृष्टा रहने में आनन्द है और किसी अन्यरूप मानने में या कुछ काम करने के विकल्प में इसको आनन्द नहीं है । वह उपाय बनावें जिससे निर्लेप रह सके, जिससे ज्ञाता दृष्टा रह सकें, जिससे अपने को अकिञ्चन अनुभव कर सकें । सच्चा स्वास्थ्य इसमें है । किसी से पूछो कि तुम्हारा स्वास्थ्य कैसा है? तो वह उत्तर देता है कि बहुत अच्छा है । क्या अच्छा है? जरा हिन्दी में बोलकर तो बताओ । क्या पूछा है?

हिन्दी में इसका कोई शब्द सोचना होगा। क्या कहा जाये जिसको स्वास्थ्य कहा है जो दूसरे पुरुष ने समझा है और उत्तर दे रहा है कि मेरा स्वास्थ्य बहुत ठीक है। हिन्दी में कोई शब्द हो तो बताओ। अंग्रेजी में कहेंगे हेल्थ, उर्दू में कहेंगे तन्दुरुस्ती, ऐसे ही हिन्दी में भी कोई शब्द होगा जिसका हमें ध्यान नहीं, पर स्वास्थ्य शब्द कहकर पूछा गया है कि तुम्हें अपने आपमें बैठने की बात कैसी बन रही है? अपने आपमें ठहरने का नाम स्वास्थ्य है। पूछने वाला यह पूछ रहा है कि आप अपने आत्मा में स्थिर रहते हो या नहीं? उत्तर देता है वह उल्टा—तंदुरुस्त हूँ या शरीर में स्थित हूँ, शरीर से वह अपने को महान् समझता है, सम्पन्न समझता है। उत्तर उसके यों चल रहे, परन्तु परस्थ रहने में क्लेश ही क्लेश है और स्वास्थ्य होने में सुख है। वह स्व क्या है जिसमें स्थित होने से आनन्द मिलता है? यह ज्ञानघन।

(५३) ज्ञानघन की दृष्टि में कृतकृत्यता की वृत्ति—मुझमें अधूरापन हो तो मैं कुछ करने के लिए सोचूँ, पर मुझमें अधूरापन है ही नहीं। जब मैं परमात्मा होऊँगा तब भी मैं कुछ बनकर न होऊँगा। जो हूँ सो ही साफ प्रकट बन जाऊँगा। जैनशासन में स्थापित मूर्तियों का निर्माण बनाकर नहीं होता है, हटाकर होता है। किसी पाषाण में कोई मूर्ति बनाना है तो उसमें कुछ जोड़ा नहीं जाता, किन्तु हटाया-हटाया ही जाता है। छेनी हथौड़ा से पत्थर हटाया, यह हटाया वह हटाया, केवल हटाने-हटाने का काम होता है, मूर्ति जो थी सो प्रकट हो गई उसमें कुछ नहीं बनाया गया, जैसे गोबर गणेश बनाते हैं इस तरह जैन शासन में मूर्ति बनाने का रिवाज नहीं है, वहाँ हटाने-हटाने की ही पद्धति है, बनाने की पद्धति नहीं है। बना हुआ तो था ही। जो पाषाणस्कंध प्रकट हुआ वह जो था अन्दर में सो प्रकट हुआ। ऐसे ही प्रभु बनने के लिए, प्रभुता पाने के लिए हमें भी अपने में बनाने को कुछ नहीं पड़ा। हटाने-हटाने का ही काम पड़ा है। मोह हटाओ, राग हटाओ, द्वेष हटाओ, शरीर हटाओ, कर्म हटाओ, विकल्प हटाओ, बनाने का कोई काम नहीं पड़ा। जो स्वभाव है वही प्रकट हुआ। अब हटाने का ढंग यह है कि जो स्वभाव है उसका आश्रय करें तो ये सब हट जायेंगे और स्वभाव को बनाना पड़ा हो, उसमें कुछ लगाना पड़ा हो ऐसी बात नहीं है। मैं परिपूर्ण हूँ, ज्ञानघन हूँ, अधूरा नहीं, ऐसा जो अपने इस परिपूर्ण स्वभाव में दृष्टि देता है और ऐसा अपने को मानता है उसका कल्याण है। वही पुरुष कृतार्थ है। कृतार्थ उसे कहते हैं जिसके अर्थ कृत हो गए याने जो करने का काम है वह कर चुका अर्थात् जिसको करने के लिए कुछ नहीं पड़ा। यह कृतार्थता आती है अपने को ज्ञानघन अनुभव करने में। वहाँ दीनता का अवकाश नहीं, अतुर्सि का अवकाश नहीं।

(५४) चार दृष्टियों से आत्मपरिचय का पौरुष—पदार्थ की पहिचान चार दृष्टियों से होती है द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव। जैसे एक इस पुस्तक का परिचय करना है तो जो दिख रहा है, जो पिण्डरूप है, जिसको हाथ में लिए हुए हैं, ऐसा भी देखा जाता है, यह हुई द्रव्य दृष्टि। यह पुस्तक कितनी लम्बी चौड़ी है, कितनी मोटी है, कितनी जगह घेरे हैं, इस दृष्टि से भी पुस्तक का परिचय होता है, इसे कहते हैं क्षेत्रदृष्टि। यह पुस्तक किस ढंग की है, पुरानी है अथवा नई है, कमज़ोर है अथवा पुष्ट है आदिक रूप से भी पुस्तक का परिचय होता है, इसे कहते हैं कालदृष्टि। और इस पुस्तक में क्या गुण है उनको समझने की दृष्टि है

भावदृष्टि । प्रत्येक पदार्थ का परिचय चार दृष्टियों से होता है । तो आत्मा का भी परिचय इन चार दृष्टियों से बनेगा । द्रव्यदृष्टि से आत्मा शक्ति और पर्यायों का पुञ्ज है । इसमें ज्ञान दर्शन चारित्र आनन्द आदिक अनन्त गुण हैं और अनन्त परिणमन हैं । उन सब गुण पर्यायों का पिण्ड यों निरखा, यह हुई द्रव्यदृष्टि । क्षेत्रदृष्टि — यह जीव कितना फैला हुआ है, इसका कितना विस्तार है यह समझना क्षेत्रदृष्टि से है वर्तमान में जीव शरीर प्रमाण है । कोई दार्शनिक कहते हैं कि बट के बीज की तरह बहुत छोटा आत्मा है और वह आत्मा बड़े जोर वेग से चक्कर लगाता रहता है, सो ऐसा लगता है कि सारे शरीर में आत्मा है । तो कोई दार्शनिक कहता है कि आत्मा तो सर्वव्यापी एक है । जिस देह में उसको छाया है लगता है मोहियों को ऐसा कि आत्मा देह बराबर हैं । भिन्न-भिन्न प्रकार की धारणायें हैं । जैनशासन बताता है कि आत्मा का खुद निज की ओर से कोई आकार नहीं है । वह तो एक ज्योतिस्वरूप पदार्थ है अनादि से जिस शरीर में गया उस-उस शरीर प्रमाण आत्मा रहा और जब मुक्त हुआ तो जिस शरीर से मुक्त हुआ उस शरीर के बराबर आत्मा था । शरीर से अलग होने पर न कोई कारण ऐसा है कि इसका आकार बढ़ा सके और न कोई कारण है ऐसा कि यह आत्मा इस प्रमाण को घटा सके । तब जो देह से मुक्त हुआ है, मुक्त अवस्था में उस आकार प्रमाण है । खुद की ओर से क्या आकार है? इसका निर्देश हो नहीं सकता इसे कहते हैं अनिर्दिष्ट संस्थान । तो यह आत्मा वर्तमान में देह प्रमाण है । कुछ अवस्थायें होती हैं ऐसी कि जिन अवस्थाओं में आत्मा देह से बड़ा भी हो जाता है, उन्हें कहते हैं समुद्धात । शरीर को न छोड़कर बाहर भी आत्मप्रदेश फैल जायें ऐसी स्थिति होती है ७ घटनाओं में । जैसे किसी को वेदना तीव्र हो रही है, वेदना सही नहीं जाती है, सीमा पार बुखार चढ़ा है, ऐसी कोई वेदना हो तो उस वेदना में यह आत्मा शरीर से बाहर भी निकल जाता है, पर शरीर को छोड़कर नहीं, शरीर में रहते हुए फैल जाता है जो शरीर से बाहर भी पहुंचता है और कोई सुयोग हो कि उस अवधि में कोई औषधि रखी हो वहाँ तक पहुंच गया । तो सम्भव है कि उसकी वेदना भी दूर हो जाती है । जब यह जीव कषाय करता है, क्रोध किया उस वेदना में यह शरीर से बाहर हो जाता है । तैजस समुद्धात, आहारक समुद्धात, केवली समुद्धात में आत्मप्रदेश देह से बाहर हो जाते हैं । दंड, कपाट, प्रतर लोकपूरण, प्रतर, कपाट, दंड व प्रवेश ऐसे ८ समयों में केवली समुद्धात लोकपूरण में एक समय ऐसा होता है कि प्रभु सारे लोकाकाश में प्रदेश से व्यापक हो जाता है । मारणांतिक समुद्धात में जीव प्रदेश पहले जन्मस्थान तक फैल जाते हैं फिर वापस आकर मरण होता है । तो कुछ स्थितियां हैं ऐसी कि जिनमें यह आत्मा देह से भी बाहर होता है, पर एक सदा के लिए यह ही कहा कि आत्मा देह प्रमाण है । क्षेत्रदृष्टि से पहिचानें, प्रदेश को छोड़कर पहिचानें और आत्मा में क्या परिणति चल रही है? क्रोध, मान, माया, लोभ, इच्छा विषय कषाय क्या परिणति चलती है, उस परिणति से भी तो आत्मा का परिचय होता है । यह ज्ञानी है यह अज्ञानी है यह परमात्मा है, यह संसारी है, इस तरह का जो परिचय हो रहा है यह होता है कालदृष्टि से और आत्मा में क्या शक्तियां हैं? सहज स्वभाव का भेद किया । पहिचानने के लिए वहाँ गुण समझे गए । इसमें ज्ञानगुण है, दर्शन गुण है, चारित्रगुण है और आनन्दगुण है । शाश्वत गुण की दृष्टि कहलाती है भावदृष्टि

। इसी भाव को अभेदरूप से निरखा जाये तो वह है अभेदभावदृष्टि ।

(५५) चार दृष्टियों से आत्मपरिचय करके चतुर्दृष्टि से परे होकर अभेद भावदृष्टि से परिचय करने पर स्वानुभूति का अवसर—आत्मा की पहिचान चारों दृष्टियों से है, पर अनुभव होगा तो अभेद भावदृष्टि के प्रताप से होगा । जब इसको अनेक का विकल्प होगा, इसमें यह गुण है, इसमें यह पर्याय है, ऐसे विकल्प के समय स्वानुभूति नहीं जगती । परिचय करने के लिए आवश्यक है । जब क्षेत्रदृष्टि से परखा कि आत्मा इतना फैला हुआ है, प्रदेश का विस्तार दिखा । देखो परिचय है, जानकारी करें सही बात है, किन्तु इस प्रकार की जानकारी के समय स्वानुभूति नहीं होती । कालदृष्टि से भी जब जाना कि आत्मा में यह परिणति है, यह दशा है, यह अवस्था है । जानें सही भी बात है, परन्तु कालकृत भेद के प्रयोग में आत्मा को स्वानुभूति नहीं मिलती । भावदृष्टि से जब परखा कि आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है, देखा तो शाश्वत भाव मगर भेदरूप देखा ऐसी स्थिति में भी स्वानुभूति नहीं है, किन्तु वे सब गुण जिसको समझाने के लिए बताये गए जिस एक अखण्ड स्वभाव के परिचय के लिए भेद निरूपण से गुणों का कथन किया गया, उस भेद स्वभाव को दृष्टि में ले, इस भेद को विलीन कर दें और एक अखण्ड चैतन्यमात्र स्वभाव की दृष्टि होना तो वहाँ स्वानुभूति होती है । इसी कारण जो ग्रन्थों में जीव को चार विशेषताओं से बांधा है—जीव पदार्थ, जीव द्रव्य, जीवास्तिकाय और जीवतत्त्व । बात तो कहीं गई जीव की, पर जीव के साथ जो इतनी तरह के विश्लेषण लगाये गए उसका प्रयोजन भी यह ही है । यहाँ नामकरण और दृष्टियों में थोड़ा नाम का भेद पायेंगे । जीव पदार्थ परखा जाता है द्रव्यदृष्टि से । द्रव्यदृष्टि से जाना गया जीवपिण्ड । जीवपिण्ड का जो अर्थ है, जो गुणपर्यायों के पिण्डभूत है वह परखा गया द्रव्यदृष्टि से । क्षेत्रदृष्टि से परखा गया जीवास्तिकाय, किन्तु उस अस्तिकाय में प्रदेश की बात होती है और कालदृष्टि से परखा गया तो कहलाया जीवद्रव्य । द्रव्य उसे कहते हैं जो अपनी पर्यायों को प्राप्त करे, करता हुआ करे उसका नाम जीवद्रव्य है । द्रु धातु से यह द्रव्य शब्द बना है । यह हुआ कालदृष्टि से, और भावदृष्टि से कहलाया जीवतत्त्व । भेद अभेद चैतन्य चित्स्वरूप अनादि अनंत अचल स्वसम्बेद्य, चित्तचमत्कारमात्र जो ज्ञान स्पर्श द्वारा ही अनुभव किया जायें वह है जीवतत्त्व । तो जीवतत्त्व की परख में स्वानुभूति का अवसर है ।

(५६) ज्ञानघन के रूप में जीवतत्त्व का अनुभव—वह जीवतत्त्व क्या है ? ज्ञानघन । वहाँ अन्य विकल्प नहीं, ज्ञान ही ज्ञान, समग्ररूप से सर्वत्र बना हुआ है । सहज ज्ञानस्वभाव । जीव से मेल करने का, मिलाप करने का, दर्शन करने का, अन्य कोई उपाय नहीं । केवल यह ही उपाय है कि ज्ञानस्वरूप में आराधना बनावें । मैं ज्ञानमात्र हूँ । ज्ञान का ही उपयोग है, ज्ञान की ही तरंगें हैं, ज्ञान का ही प्रसार है । तिर्यक में भी ज्ञान, ऊर्ध्वता में भी ज्ञान, प्रदेश में भी ज्ञान, परिणतियों में भी ज्ञान । ज्ञानघन और जब बिगड़ा है तब भी क्या है? ज्ञान की ही तो कोई परिणति है । जब जीव सुख भोगता है तब क्या भोगता है । क्या आम, दाल, रोटी, चावल आदि इनको भोग सकता है यह जीव । उनसे तो संबंध ही नहीं बन सकता । आत्मा अमूर्त है । जैसे आकाश में भोजन का स्पर्श नहीं होता ऐसे ही आत्मा में भोजन का स्पर्श नहीं होता । और भोगता

क्या है? ज्ञान की परिणति को भोगता है। ऐसी ही वर्तमान परिस्थिति है। ऐसा ही कर्मोदय निमित्त है कि जहाँ यह जीव अपने निरपेक्ष ज्ञान से कुछ समझ नहीं पाता। समझना तो ज्ञान को ही है, लेकिन इन्द्रियसापेक्ष इनका ज्ञान चल रहा। इन्द्रिय द्वारों से चल रहा। जानने वाली इन्द्रियां नहीं, किन्तु जब यह आवृत है, तो इसके जानने का उपाय ये इन्द्रिय खिड़कियां हैं। जैसे कोई पुरुष एक हॉल में खड़ा है तो बाहर की चीजों को वह खिड़कियों से ही देख पाता है। देखने वाली खिड़कियां नहीं हैं, देखने वाला तो पुरुष है, मगर वह खिड़कियों से बाहर की चीजें देख पाता है, पर खुद के शरीर को जो उस भवन में खड़ा है पुरुष, क्या वह खिड़कियों के द्वार से देखता है? वहाँ खिड़कियों की अपेक्षा नहीं होती। खुद अपने शरीर को देखने के लिए खिड़कियों की आवश्यकता नहीं। बाहर की चीजों को देखने के लिए खिड़कियों की आवश्यकता है और जहाँ खिड़कियां हो नहीं हैं, भींत ही न हो, भींत ढा दे तो वह पुरुष सर्व तरह से परपदार्थों को देख सकता है तो आवरण को भींत ढह गई प्रभु के, सो प्रभु सर्व ओर से परपदार्थों को निरखते हैं, और यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी छङ्गस्थ इसका आवरण अभी हटा नहीं, तो यह परपदार्थों को तो समझ पाता है इन्द्रिय मन द्वारा लेकिन खुद को समझता है यह इन्द्रिय और मन की सहायता बिना। यद्यपि खुद को समझने के लिए भी मन की सहायता हो जाती है, पर यह मन वहाँ तक सहयोग देता है जहाँ तक विकल्प की सूक्ष्मता भी जिन्दा रहती है। बाद में मन काम नहीं करता। जिस समय यह आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप को अनुभव में लेता है वहाँ मन का काम नहीं है। जैसे कोई पहरेदार किसी दर्शनार्थी को राजा से मिलाने चलता है तो पहरेदार वहाँ तक तो उसके साथ जाता है जहाँ तक राजा दिखता नहीं। पर जहाँ राजा दिखने लगता वहाँ से पहरेदार इशारा भर करता है कि वह बैठे हैं राजा साहब जाओ, और पहरेदार लौटकर अपनी इयूटी में आता है। वह दर्शनार्थी अकेला ही राजा के निकट जाकर मिलता है, ऐसे ही यह मन पहरेदार इस दर्शनार्थी उपयोग को वहाँ तक ले जाता है जहाँ से इस परमात्मस्वरूप को निरखने का संकेत बनता है, वहाँ के बाद मानो यह मन कहता है कि अब आप जाइये और इस परमात्मस्वरूप से मिलिए। यह उपयोग तो मिलने लगता है, स्वानुभूति करता है और यह मन वहाँ से निवृत्त हो जाता है। तो मिलन में क्या मिला, किससे मिला, कौन मिला? यह ज्ञानघन परमात्मस्वरूप अनुभव भी किसका हुआ? इस ज्ञानघन का। ज्ञान ही ज्ञान, ठोस ज्ञान ही ज्ञान ज्ञान में रहा ऐसा वहाँ अनुभव में आया।

(५७) पौरुष के कर्तव्य का स्मरण—हम आप लोगों के लिए अभी कितना चलना है, कितना पौरुष करना है सो समझिये। और वह पौरुष है ज्ञान का। अन्य जो कुछ भी साधन बढ़ाया गया है, लोगों ने कहा है प्राणायाम बनाया, योगसाधन या अन्य बातें यह एक मन पहरेदार को प्रसन्न करने के लिए है। इस ज्ञानघन परमात्मस्वरूप के दर्शन करने में यह क्रिया समर्थ नहीं है। भला पहरेदार को प्रसन्न करना भी तो कभी आवश्यक होता है। इतनी ही बात उन बाहरी साधनों में होती है। इतना प्रयत्न होने पर भी अगर मन में वह कला नहीं है तो दर्शन कराने में समर्थ नहीं है और कला है तो दर्शन करा सकती है। वह कला आती है ज्ञान की सुगंधि से। तो हर स्थितियों में भी ज्ञान की ही मुख्यता रहे। ज्ञान द्वारा ज्ञान में, ज्ञान के

लिए ज्ञान को ही इस ज्ञान ने जाना यह स्थिति है स्वानुभव की । कहां जाना? ज्ञान में । घर में, देह में, आधार वहाँ ज्ञान ही है । अन्य आधार क्या मतलब? सबका वहाँ अत्यन्ताभाव है । किसी भी आधारभूत बात का यहाँ सम्बंध ही नहीं है । ज्ञान है, स्वयं है । स्वयं स्वयं में है । कहा स्वानुभूति की? ज्ञान में । और जाना किसको? इस ज्ञान को ही । और जाना किसने? इस ज्ञान ने ही । और क्यों जाना? इस ज्ञान के लिए । उसका और कोई प्रयोजन नहीं । बस यह जानना जानना ही बना रहे, इसके लिए ही स्वानुभूति है । इस प्रकार जहाँ यह अभेद षट्कारकपना देखकर परखा जाता है तो स्वानुभूति का लक्षण विदित हुआ, लेकिन स्वानुभूति में यह षट्कारकता नहीं पड़ी हुई है । यहाँ ही हम समझते हैं । वहाँ तो एक अभेद अनुभूति है । अपने को निरखना है ।

(५८) **ज्ञानघन अन्तस्तत्त्व की सुध बिना संसारग्रमण**—अपने आपमें अपने को ज्ञानघन, ज्ञान ज्ञान से ही रचा हुआ यह आत्मा है । रचने वाला कोई नहीं, अकृत्रिम है, अनादि है, फिर भी क्या है वहाँ? किससे रचा हुआ? अनादि सही, समझना तो होगा । उसमें ठोस चीज क्या है? वह है ज्ञानस्वरूप, जानना । कितना विलक्षण ज्ञानतत्त्व है कि जिस जानन को पकड़े कौन? कैसा एक अद्भुत पदार्थ है यह आत्मा कि जो निरन्तर जाननस्वभाव रखता है और जानन की वृत्ति करता है, इसी कारण यह आत्मा समस्त पदार्थों का सम्राट है, है यह खुद अद्भुत विभव सम्पन्न, किन्तु इस सम्पन्नता की सुध नहीं है, इसलिए बाहर-बाहर डोलना पड़ता है । बाहरी पदार्थों में उसको अनुग्रह विग्रह करना पड़ता है । अनुभव करना होगा कि मैं ज्ञानघन हूँ । मेरे स्वरूप में अपूर्णता नहीं । अधूरापन होवे तब तो कुछ आवश्यक है, यहाँ तो अधूरापन है ही नहीं । सबसे निराला ज्ञान से धन । इसको अब क्या आवश्यकता है कुछ भी बात की? ऐसा यह परिपूर्ण मैं ज्ञानतत्त्व हूँ, यह बोध कि वहाँ कृतार्थता प्रकट होती ही है । समस्त अर्थ कर लिया गया, समस्त प्रयोजन सिद्ध कर लिए गए ऐसी स्थिति होती है । मैं क्या हूँ, इसकी समझ पर सारा भविष्य है । एक उक्ति अन्य दार्शनिकों के यहाँ प्रसिद्ध है कि यहाँ ब्रह्म एक है, लेकिन जहाँ यह भाव हुआ—‘एकोहंबहुस्यामि’ याने मैं एक हूँ लेकिन बहुत हो जाऊं, ऐसी जहाँ वासना जगी कि यह बहुत बन गया, अनेक जीव बन गया । जिसने जो बात सोची उसे मूलतः मिथ्या नहीं कह सकते, पर कुछ हेर फेर हो जाने से बात कहीं की कहीं प्रसिद्ध हो गई । यह भी बात सही है । सभी लोग अपनी-अपनी देखें, मैं अद्वैत हूँ, अकेला हूँ, एक हूँ । स्वभाव को निरखें—मैं एक हूँ, फिर यह बहुत क्यों बन रहा है? यह बहुत रूप विकल्प करता है तो बहुत बनता है, अपने को एकरूप अनुभव नहीं कर पाता सो ‘बहु स्यामि बहु स्यामि’ इसकी वृत्ति चलती है । तो अपने मूल एकत्व को पहिचानें तो ये सारी विषम सृष्टियां समाप्त हों, चारों ओर के दुःख समाप्त हों । वह एकत्व क्या है? अपने को ज्ञानघन अनुभव करने में पा लेना । जो वजनदार हो, ठोस हो वह हिलता डुलता नहीं, उसमें अस्थिरता नहीं होती है । लोहे का गोला जहाँ है तहाँ पड़ा है, यह तो है एक पौद्गलिक वजन की बात, लेकिन जहाँ भाव का वजन आ जाये, मैं ज्ञानघन हूँ, ज्ञानज्ञान से परिपूर्ण हूँ, ऐसा ज्ञानघनपना उपयोग में हो तो यह भी स्थिर रहेगा, चलायमान न होगा जो भी चलायमान हो रहा है जीव वह ज्ञानघन के अनुभव बिना हो रहा है ।

(५९) ज्ञानघन की दृष्टि में ज्ञानानुभूति का अभ्युदय—मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानघन हूँ, ज्ञान ज्ञान ही हूँ, ज्ञान सिवाय कुछ नहीं हूँ। निरन्तर यह भावना चले तो उसका फल यह है कि यह मात्र ज्ञान परिणमन ज्ञान परिणमन ही करता रहेगा। जैसी दृष्टि करे, जैसा अन्दर मैं भाव बनाये वैसा ही व्यवहार चलता है। एक सेठ का एक बाबू के साथ कोई मुकदमा लग गया। कई पेशियाँ हो गई। जाना पड़ता था रेलगाड़ी से ३-४ स्टेशन दूर। तो वह बाबू परेशान हो गया तो उसने एक दिन एक उपाय रचा कि जो तारीख दी थी जिस पर फैसला सुनाना था उस दिन गाड़ी के समय से पहले एक तांगे वाले से मिल आया और उसे रुपया-दो रुपया देकर समझा दिया कि देखो अमुक सेठ यहाँ आयेगा, उससे पैसे ठहराना नहीं, जो दे सो लेकर अपने तांगे में बैठा लाना। उससे यों कहना कि सेठ जी आज तुम्हें क्या हो गया है? आज तुम्हारी तबीयत कुछ खराब जैसी दिखती है, तुम्हारा चेहरा गिरा हुआ है...., यही बात बाबू जी ने कुली से कह दी और यही बात टिकट बांटने वाले से भी कह दो। जब सेठ स्टेशन पर पहुंचा तो वहाँ सबसे पहले तांगे वाला मिला, उसने सेठ को अपने तांगे में बैठाया और सेठजी से उसी तरह कह दिया जिस तरह बाबू जी ने कहने को कहा था, कुली ने भी वही बात कही, टिकट बांटने वाले ने भी वही बात कही। जब सभी के मुख से सेठ ने यही बात सुनी तो सेठ ने अपने ऐसे भाव बना लिए कि वह बीमार हो गया और वहाँ से घर वापिस लौट आया। उस दिन की तारीख में न पहुंचने से सेठ मुकदमा हार गया और बाबूजी का काम बन गया। तो अपने आपके भीतर अपने को जिस तरह का देखा उस तरह के व्यवहार की प्रेरणा मिलती है। अन्य बहु रूप में देखने से तो लाभ है नहीं। एक अपने को ज्ञानघन रूप में परखने से लाभ मिलता है। ऐसा अनुभव हो कि मैं ज्ञानघन हूँ। सर्वत्र ज्ञान ज्ञान से ही रचा हुआ हूँ ज्ञानघन। मेरा न परलोक, न इहलोक, न वैभव, न कुटुम्ब, न संग, न परिग्रह। मेरा सर्वस्व यह ज्ञान भाव ही है, ऐसा अनुभव करने वाला पुरुष कृतार्थ हो जाता है और मुक्ति का पथिक बनता है।

(६०) जिज्ञासा और आनन्देच्छा होने पर भी पूर्ति न होने का कारण—जगत के सभी जीवों को, हम आपको दो प्रकार की वाञ्छायें मुख्यतया जगती हैं। एक तो ज्ञान खूब हो, पूरा हो और दूसरा आनन्द मिले। इन दोनों में से मुख्य है आनन्द। फिर भी करीब करीब समानता से दो बातें जीवों में प्रकट होती है—(१) ज्ञान खूब हो, (२) आनंद खूब हो। बच्चे से लेकर वृद्ध तक कभी कोई नई चीज सामने से गुजर रही हो तो उसके सम्बंध में जाने बिना चैन नहीं पड़ती कि क्या है? जानने की इच्छा होती है और आनन्द पाने की इच्छा होती है मगर न सब जान पाते न आनन्द प्राप्त कर पाते, उसका कारण क्या है और कैसे यह बात प्रकट होती है, इस बात का समझना कितना आवश्यक है कि आप अनुभव कर रहे होंगे कि जब ये दो इच्छायें पायी जाती हैं तो इन दो बातों की पूर्ति होना आवश्यक तो है। हाँ अब विचार करें कि क्यों नहीं कि ये पूर्ण हो पाते? हम बाह्य चीजों में अपना उपयोग लगाते हैं, राग करते हैं, मोह रखते हैं तो हमारे ज्ञान की सीमा बन जाती है और यह ज्ञान द्वारा प्रकट नहीं हो पाता। बाहर उपयोग लगाने से, राग करने से, लगाव रखने से ज्ञान का अभ्यास बन जाता है। उसको ही जाने, इसलिए ज्ञान की पूर्णता नहीं होती। अगर बाहरी

पदार्थों में उपयोग न फंसाये, मोह रागद्वेष न करें और एक ज्ञानघन ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही उपयोग को जोड़ा जाये तो यहाँ से ऐसा प्रताप प्रकट होता है कि विवश होकर जगत के सब पदार्थों को ज्ञान में आना पड़ता है। तो ज्ञान की जो पूर्णता नहीं होती उसका कारण यह है कि बाहरी बातों में ज्ञान को, उपयोग को जोड़ करके हम उसकी सीमा बनाये रहते हैं—दूसरी चीज—आनन्द क्यों नहीं मिल पाता? उसका कारण है कि आनन्द जहाँ नहीं है वहाँ हम बल लगाते हैं, बाह्य वस्तु में हमारा आनन्द नहीं, फिर भी हम बाह्य वस्तु में उपयोग जोड़ते हैं आनन्द की बात रखकर। जहाँ जो चीज नहीं उसके अवलम्बन से वह कैसे प्रकट होगा? जैसे कोई कुछ भी प्रयोग करे, पर बालू से तेल नहीं निकाला जा सकता, इसी प्रकार बाह्य वस्तु में आनन्द नहीं और दूसरे जीवों में आनन्द तो है, पर वह आनन्द उनके लिए है।

(६१) एक वस्तु का दूसरी वस्तु में प्रभाव न जाने का कारण वस्तुसीमा—वस्तु की एक सीमा होती है कि कोई पदार्थ अपनी सीमा को तोड़ नहीं सकता तब ही तो उनकी सत्ता है। जगत में इतने पदार्थ दिखते हैं ये अब तक हैं क्यों? ये चले आये इनकी सत्ता क्यों बनी चली आयी कि ये सब अपनी ईमानदारी पर रहते हैं। कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ में अपनी शक्ति, परिणति, अपने गुण, अपना भाव, अपना प्रभाव, कुछ भी नहीं दे पाते। यद्यपि ऐसा लगता है कि प्रभाव तो पड़ता है एक का दूसरे पर और खासकर विज्ञानवाद में तो यह पद-पद पर बात दिखती, अमुक चीज का सम्बंध किया तो दूसरे पर यह असर हुआ। वस्तुतः देखा जाये तो किसी पदार्थ का दूसरे पदार्थ पर असर नहीं पड़ता, जो असर हुआ है यह जिसमें परिणति हुई है उसका ही वह असर है, पर उस असर में निमित्त कारण दूसरा है। उसको जल्दी की भाषा में ऐसा बोल दो तो कोई हानि नहीं कि इस पदार्थ का इस पर असर पड़ा है। पर जब विश्लेषण करेंगे तो किसी पदार्थ का प्रभाव किसी दूसरे पर नहीं पड़ता। इस बात को मोटे रूप से समझने के लिए एक बहुत मोटा वृष्टांत ले लो। बात सब जगह घटित हो जायेगी। जैसे किसी देहाती को न्यायालय में जाना पड़े, कभी गया न था। सुन रखा था कि कचहरी बड़ी कठिन चीज होती है। वहाँ एक जज होता है, लोग कांप जाते हैं। जज न जाने क्या-क्या पूछता है। सो वह देहाती कचहरी में पहुंचा तो डर के मारे उसने अपनी धोती बिगाड़ ली। तो बताओ जज का वह प्रभाव है क्या? अरे वह प्रभाव जज का नहीं। उस देहाती ने स्वयं ही अपने अन्दर उस प्रकार का भाव बनाया, उस प्रकार का अपने में असर बनाया, वह प्रभाव यदि जज ने डाला होता तो वहाँ रहने वाले वकील अथवा जज के मित्र लोगों पर भी उस प्रकार का असर होना चाहिए था, पर ऐसी बात तो वहाँ नहीं देखी जाती। तो ऐसी ही बात सर्वत्र समझो कि दो पदार्थों का जहा सम्पर्क हुआ और वहाँ एक पदार्थ की शक्ति-सूरत, प्रभाव-असर बदल जाये तो वह असर उसका ही असर है। उसमें निमित्त होता है दूसरा। तो ऐसे ही एक माध्यम से सारी बात समझते हुए कि मैं दूसरे को सुखी नहीं करता। दूसरा सुखी होता है वह अपने प्रभाव से उसमें मैं निमित्त होता हूँ। मुझको कोई सुखी नहीं करता। मैं सुखी होता हूँ अपने आपके परिणाम से। तो जहाँ सत्य बोध होता है कि मेरा आनन्द आनन्दनिधान मेरे ही सहज स्वभाव के आलम्बन से प्रकट होता है वहाँ निजतत्त्व के आश्रय से आनन्द प्रकट होता है।

(६२) प्रत्येक परिस्थिति में आत्मसाधना की आवश्यकता—भैया ! बाह्य वस्तु के आश्रय से आनन्द नहीं होता । कैसे आये आनन्द? बाह्य पदार्थों पर ही दृष्टि रखते आये और दुःखी होते आये । भैया ! माना कि लोगों में रहते हैं, समूह में रहते हैं, काम अनेक करने पड़ते हैं, यश के माफिक, पोजीशन के माफिक व्यवहार रखना पड़ता है, गृह-व्यवस्था ऐसी ही है तो ये सारे काम करें तो सही, किन्तु अपने पर दया करके एक-आध घंटा अथवा एक घंटा समय अपने हित के लिए तो रखें । जहाँ अपने को बड़ा नम्र बनाना, सब जीवों को क्षमा करना, अपने आपको सरल बनाना, अपने आपको अपने आपके अभिमुख करना, किसी भी बाह्य पदार्थ में लालच न जगे । अपने भीतर ज्ञानप्रकाश को समझना, इन बातों के लिए कुछ समय भी न दें और बाहर-बाहर की बातों में ही लगे रहें तो आत्मा की बेसुधी में लाभ पायेंगे कुछ नहीं, केवल क्लेश क्लेश की संतान चलती रहेगी । तो आनन्द पाने के लिए यह आवश्यक है कि सत्य बोध हो और आनन्दस्वरूप जो निज आत्माराम है उसका आलम्बन हो । देखिये चाहते हैं ना दो बातें—ज्ञान पूर्ण हो और आनन्द भी पूर्ण हो । तो कितनी सहूलियत है कि यह आत्मा स्वयं ज्ञान और आनन्द से ही रचा हुआ है, जिस बात को हम चाहते हैं उससे ही रचा हुआ आत्मा ही, स्वरूप ही है, दूसरा कुछ स्वरूप ही नहीं आत्मा का । तभी तो कोई लोग कहते हैं कि आनन्द ‘ब्रह्मणोरूप’ । तो कोई कहते हैं कि जो ज्ञान है वह ही ब्रह्म का स्वरूप है । ज्ञान और आनन्द हम चाहते हैं और यह बड़ी सुविधा की बात है कि हम आप सब ज्ञानमय हैं, आनन्दमय हैं, पर आश्चर्य की बात यह है कि ज्ञानमय होकर भी हम इस ज्ञानस्वरूप को नहीं जान पा रहे, आनन्दमय होकर भी हम आनन्द पाने के लिए बाहरी बातों की आशा करते फिरे । थोड़ा समय अपने जीवन में सबसे निवृत्त होकर आधा घंटे के लिए ऐसा उपेक्षित होकर जिसे यों कहो कि उपचार से मानो मुनि हो गए । कुछ नहीं सोचना, कोई लगाव नहीं । देह पर पहने हुए कपड़ों का भी ध्यान नहीं, देह का भी ध्यान नहीं होता । भीतरी एक ज्ञानप्रकाश को समझने के लिए ही लिया गया हो ऐसी दृष्टि थोड़ी जरूर बनानी चाहिए रोज, तो कुछ अपने आपके स्वरूप का प्रवर्तन होगा । और इन असार इन्द्रियसुखों में ही प्रेम रहा तो इस आत्मा की भलाई नहीं है ।

(६३) निरंतर मरण की स्थिति में निरंतर समाधि की आवश्यकता—भैया ! आयु निकल रही है, जीवन चला तो कौन बूढ़ा नहीं हुआ? बूढ़ा होने पर जब देह शिथिल हो जाता, कुछ क्रिया नहीं कर पाते तो वहाँ एक भीतर में बहुत कषाय जगती रहती है, क्या उसका कष्ट नहीं होता है? ऐसे भावी कष्ट से बचने के लिए उपाय क्या है सो बताओ? यहाँ के कष्ट की बात कह रहे हैं । यदि ज्ञानबल है, कषाय नहीं जगी, उसका उपाय पहले से कर लिया होता कि वस्तु का स्वतंत्र सत्य स्वरूप का अभ्यास बनाया होता तो वहाँ समता से रह सकते थे । हम आपका समता का घात हो रहा है यहाँ यह मरण क्षण-क्षण हो रहा है, इसे कहते हैं भाव मरण । प्रतिक्षण आयु के निषेक खिर रहे हैं यह हो रहा आवीचि मरण । जहाँ शरीर से भी विदा हो गए वह है भवमरण और जहाँ अहर्निश क्षण-क्षण रागद्वेष मोह में उपयोग चल रहा हो वहाँ आत्मा का जो विशुद्ध चैतन्य प्राण है उसका जो घात चल रहा है वह कहलाता है भावमरण । और आवीचिमरण की अपेक्षा भी देखें

तो जो आयु के क्षण गए वे मरण ही तो कहलाये उतनी आयु पुनः तो नहीं आ सकती। तो ऐसा तो मामला है। सामने की बातें हैं तिस पर भी इन्द्रियसुख में रति रहे और आत्मा की सुध न करें तो यह अपने लिए कितनी अहितकर बात है। जगत में जो कुछ दिखता है वह सब विनाशीक है। उसके लगाव से मेरे को लाभ न मिलेगा और मेरे में ऐसा जो गुजर रहा है—देह होना, पुरुष होना वह भी विनाशीक है। उनको बनाये रहने में भी लाभ नहीं है। एक अविनाशी जो आत्मा का सहज स्वरूप है, सत्त्वरूप है उस अविनाशी स्वरूप की दृष्टि जगे तो मैं अमर होऊँगा। अमर तो है ही यह जीव, पर अमरत्व की सुध नहीं है इसलिए मरण का क्लेश है। जहाँ अपने अविनाशी स्वरूप को जाना वहां विश्वास हो गया कि मैं अमर हूँ।

(६४) अमृत ज्ञानतत्त्व की सुध में मरण की निरापदता—कोई किसी बड़े अफसर का जब तबादला होता है एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में या कहीं भी तो उसके लिए कितने साधन सरकार देती है? एक रेलगाड़ी का डिब्बा, एक मालगाड़ी का भी डिब्बा, चक्की, चूल्हा, गाय, भैंस आदिक ले जाये, दसों नौकर सामान रखने वाले, जहाँ उतरेगा वहाँ दसों नौकर पहले से तैयार हजारों की संख्या में जनता, तो ऐसे आफीसर का तबादला होने में कौनसी दिक्कत होती है? बस मोटर से उतरकर रेल के डिब्बे में बैठना भर है, किसी प्रकार की कोई उलझन ही नहीं है, रिजर्व डिब्बा है, जहाँ गया उतर गया, क्या दिक्कत आयी? पहुंच गया। और किसी छोटे कलर्क का जब तबादला हो तो उसको कितनी दिक्कत? जहाँ पहुंचेगा वहाँ अपना सारा सामान किस तरह ले जायेगा? बड़ी मुश्किल में पहुंचता है। उसे ठहरने को कहीं जगह नहीं मिलती, वह जगह ढूँढ़ता फिरता है, अनेक परेशानियां उसके सामने आती हैं जिन्हें आप सब लोग जानते हैं। ऐसी ही बात समझिये कि किसी ज्ञानी आत्मा का जब तबादला होता है याने एक देह को छोड़कर दूसरे देह में जाने की बात होती है तो तबादला के समय ज्ञानी जीव को कोई दिक्कत नहीं होती। कारण कि वह जान रहा है कि मेरा सब कुछ वैभव मेरे से अभिन्न है। मैं जो रहा हूँ तो ऐसा सारा वैभव मेरे साथ ही है। पूर्ण वैभव वाला यह मैं यहाँ से यहाँ बैठ गया। दूसरी जगह पहुंच गया। जाने में भी क्या दिक्कत? एक-दो-तीन समय में सारा रास्ता पार हो जाता है। जहाँ पहुंचा वहाँ भी विभव सम्पन्न। तो जो अपने वैभव को निरखता है उसको उसकी बदल के समय कष्ट नहीं होता और एक अज्ञानी पुरुष तबादले के समय, मरण के समय कितना संक्लेश करता है? हाय मुश्किल से हमने कमाया, घर बनाया, वह छूट रहा है। जो इज्जत पायी, जो ये पार्टी के लोग हैं, मित्रजन हैं, परिजन हैं, ये सब छूट रहे हैं। जिसकी दृष्टि में इस तरह की नाना कल्पनायें होती हों उसे कितना कष्ट है? तो कष्ट कोई दूसरा नहीं देता हम आपको। हम ही स्वयं कल्पनायें करते हैं और दुःखी होते हैं, सुखी होते हैं। तो वह सब अपने आधीन बात है।

(६५) दुःखपूर्ण संसार में कष्टसहिष्णुता से ही विजय की संभावना—यहीं देख लो—प्रायः सभी लोग अपने को बड़ा दुःखी अनुभव करते हैं। कोई सोचता है कि मेरे को हजारों का नुक्सान पड़ गया, रोग का, शोक का, वियोग का, अनिष्ट संयोग का। कुछ न कुछ कल्पनायें करके प्रत्येक मनुष्य ऐसा अनुभव करता है कि मेरे को बड़ा दुःख है, लेकिन दृष्टि पसारकर देखो तो क्या दुःख है? अपने से अधिक दुःखी कितने जीव

संसार में पड़े हुए हैं? जरा निगाह तो करो? क्या उनमें जीव ही नहीं समझते? कितना उनको कष्ट है? रोगी हैं, बोल नहीं पाते, लकवा लगा है, खाने का भी इन्तजाम नहीं, औषधि का भी इंतजाम नहीं, घर के बच्चे भी भूखे रहते हैं, यों कितनी ही प्रकार की कठिन स्थितियों वाले लोग पाये जाते हैं, जरा उन पर दृष्टि तो दें और अपने आपमें कुछ सन्तोष लावें। मेरे को कोई दुःख नहीं, दुःख से घबड़ाने वाले को दुःख छोड़ेगा नहीं। कभी भी भगवान से प्रार्थना करते हुए मैं मेरे को दुःख न हो, ऐसी मांग करने में सार नहीं। मांगने से कहीं दुःख मिटता नहीं। और, मेरे में दुःख न हो ऐसी कोई आशा रखे तो दुःख न हो ऐसा होता नहीं संसार में। इसके बजाये ऐसी भावना बनाये कि मेरे को ऐसा ज्ञानबल जगे कि मैं सारे कष्टों को समता से सह सकूँ इसमें तो पार पा लेंगे, मगर मेरे को कोई दुःख न आये इसमें पार नहीं पा सकते। और, पार तो इसमें भी पा सकते, मगर इसके लिए ज्ञानबल चाहिए। मेरे को दुःख ही नहीं, मेरे स्वरूप में कष्ट ही नहीं। कोई यों उल्टा चलता है तो चलता है, उसकी क्रिया है, मेरे को उससे क्या प्रयोजन? जगत में किसी की कुछ भी प्रवृत्ति होती है तो उसका ज्ञाता दृष्टा रह जाये। इतना अपूर्व बल हो तो दुःख ही नहीं। कोई बात कहता है ऐसी स्थिति में कष्टसहिष्णुता की बात तो आनी ही चाहिए। कष्ट हर एक पर आयेंगे, जब तक यहां पर सम्बंध बना है तब तक कष्ट सभी पर आयेंगे। परिवार में जितने लोग हैं इनका वियोग होगा कि न होगा? खुद का भी वियोग होगा कि न होगा। अवश्यंभावी है, किसी का पहले होता, किसी का बाद में होता। तो जब वियोग होगा तब यह कष्ट मानेगा कि नहीं। कष्ट की बात इस लोक में लोग मानते ही हैं। कौन पुरुष ऐसा है कि जिस पर कष्ट की सम्भावना नहीं, जिस पर सम्भावना नहीं वह साधु वास्तव में अगर विरक्त है, ज्ञान में लीन है तो उसे कष्ट नहीं है, बाकी तो इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, शारीरिक वेदना आदि अनेक प्रकार की आशायें, ये सब कष्ट पद-पद पर मंडरा रहे हैं। ऐसी स्थिति में जब तक हम कष्टसहिष्णु बनने का प्रयास न करें तब तक हम अपने जीवन में प्रगति ही नहीं कर सकते।

(६६) सुख दुःख में समता से प्रगति की संभवता—भैया! जो दुःख आये सो आये, उसको गहरा नहीं बनाना है। हो गया दुःख, क्या हुआ, कुछ बाह्य पदार्थ की परिणति ही तो हुई, उसकी उपेक्षा करें और अपना जो लक्ष्य बनाया है जीवन का उसमें आगे बढ़ते जायें जीवन का लक्ष्य क्या? मानो कुछ पोजीशन बनाया, कीर्ति बनाया, धन वैभव बढ़ाया। ठाठ बाट बढ़ाया, तो इस लक्ष्य से मिलता क्या? आत्मा को कहां शान्ति मिलती है? मरण के बाद आत्मा इनमें से ले क्या जायेगा? जैसे पहले भवों की बातें इस भव में कोई मददगार नहीं हो रही। इस भव की भी कोई बात आगे भव में मददगार न होगी। कोई सोचता होगा कि आगे की कौन जाने, भव मिलता कि नहीं मिलता, परलोक है कि नहीं। तो थोड़ा भी युक्ति से सोचे कोई कि जो है उस है का समूल नाश हो कैसे सकता? कोई भी दृष्टान्त न मिलेगा अजीव पदार्थों में न मिलेगा। कुछ भी है वह तो रहेगा, चाहे किसी शक्ति में रहे, किसी पर्याय में रहे। जो है उसकी शक्ति मिट कैसे सकती है? है का न कैसे बन जायेगा? तो अपने आपके बारे में भी सोचूँ कि मैं हूँ या नहीं। हूँ हूँ तो सब बोलते हैं। मेरा सत्त्व है तब ही तो दुःख सुख सब लगे हुए हैं, तो मेरा जब सत्त्व है, मैं हूँ तो फिर मिट

कैसे सकूँगा ? इस परिवार को छोड़ने पर में तो रहूँगा कुछ । क्या स्थिति होगी ? उसके लिए मिसाल यह है कि जो वर्तमान में देह दिखता है वह मिसाल है । परलोक का अभाव नहीं है । जब बच्चा तुरन्त पैदा होता है तो भले ही इतना प्रयास कोई मां करती है कि अपने स्तन पर बच्चे का मुख लगा ले, लेकिन उसे गुटकना, भीतर ले जाना यह तो नहीं सिखा पा रही वह मां । क्यों ऐसा कर लेता है वह बच्चा कि पूर्वभव में भी था, उसे अभ्यास बना हुआ था क्षुधा मेटने का । वह अभ्यास उस समय काम दे रहा । कहाँ-कहाँ जातिस्मरण की बात सुनी जाती है । होता है जातिस्मरण, उससे सिद्ध है कि परलोक है । मुख्य बात तो एक यह है कि जो सत् है उसका कभी विवरण नहीं होता । किसी भी वैज्ञानिक से अथवा विद्वान् से पूछ लो । हो कैसे सकता कि जो है वह कुछ रहे नहीं । तो जब मेरा सत्त्व है, मुझे सदा रहना है तो जरा अपने भावीकाल की बात विचारें कि मुझे अच्छे ढंग से रहना चाहिए । इस जीवन में भी लोग क्या करते कि पहले तो सब कष्ट सह-सहकर जायेदाद बना लें, फिर आराम से खाते हुए रहेंगे । इतना पौरुष करते हैं, इतना कष्ट सहते हैं एक थोड़ी सी जिन्दगी में आराम से रहने के लिए ये सब प्रयत्न करने चलते हैं । तो भला अनन्तकाल तक सुखी शान्त रह सकें इसके लिए भी कोई उद्यम बनाने की बात मन में आती कि नहीं । मोह को ढीला करना पड़ेगा, राग द्वेष से उपेक्षा करनी होगी । अज्ञान से मुख मोइना होगा और आत्मबोध में आना होगा नहीं तो जैसे दुःख भोगते आये वैसे दुःखों की संतान रहेगी । आत्मा का हित हो नहीं सकता।

(६७) **आध्यात्मिक आन्तरिक उद्यम से आत्मलाभ**—जो भीतर में प्रयोग बनायेगा उसको लाभ मिलेगा, यह बात किसी से कहने सुनने की नहीं है । भीतर में सोचना और अपने आप ही अपने में अमल करने की बात है । यह सब गुप्त ही बात है । कुछ दिखाने की बात नहीं है । जो भीतर अपने ज्ञानबल से अपना यह बोध कर सका, उसमें रम सका, उसमें तृप्त रह सका उस जीव को शान्ति प्राप्त होगी । उसके लिये संयम से रहो, इन्द्रियों के वश में न होवो । इन्द्रिय को वश में रखो । वचनों का संयम, मन का संयम, सबका हित विचारना, किसी को विरोधी न समझना । जब हम अपने अन्तर्बोहार को सही बनायेंगे तो यह ज्ञान भोला सीधा बाबा, कहते हैं ना भगवान को भोले बाबा, सचमुच भगवान भी भोला है और अपना आत्मस्वरूप भी भोला है । भोला उसे कहते हैं जिसमें टेढ़ न हो, कपट न हो, सीधा-सादा हो, सरल हो, स्पष्ट हो, ऐसे ही प्रभु हैं, ऐसा ही अपना स्वरूप है, अपने आपमें विराजमान भोले बाबा की सुध लें और ऐंठ, कपट, मायाजाल, इन सारी बातों की आहुति करें और कुछ क्षण तो अपने ज्ञानदेवता से मिलने का प्रयास तो बनाया करें । निरन्तर थोड़े क्षण भी प्रयास बना रहेगा तो बाकी क्षणों में भी आनन्द रहेगा और अपने आपका उद्धार भी होगा । तो एक निर्णय बनावें कि मेरा कुछ नहीं है, देह भी मेरा नहीं, परिवार भी मेरा नहीं, धन-वैभव भी मेरा नहीं, मेरा यहाँ कुछ भी नहीं । मेरा तो केवल एक मेरा आत्मा है । वही प्रिय है, वही ध्यान के योग्य है । वही शरण है, वही अवलम्बन है, इसका यह ही मात्र है । मेरा मेरे सिवाय अन्य कुछ नहीं है । ऐसी एक भावना हो तो समाधिभाव बना । समाधि उसे कहते हैं कि जहाँ आधि शान्त हो जाये । मानसिक क्लेश न रहे, ऐसी स्थिति बने और उसी स्थिति के निरन्तर अभ्यास से हमारा क्लेश दूर होगा । उसके लिए

चाहिए—रोज घंटाभर ज्ञानाभ्यास में समय लगावें, गुरुजन मिलें, उनसे पढ़कर ज्ञानाभ्यास करें, न मिले तो पुस्तक का भी बहुत अच्छा सहारा है। सब समझ में आता है। एक भीतरी भावना से उस पुस्तक का अध्ययन करें। अध्ययन करने की विधि यह है कि जो पढ़ना उसे समझ-समझकर पढ़ना। जो पढ़ गए उसे फिर दुबारा पढ़ना, तीसरी बार उस ग्रन्थ को बंद करके जितना स्मरण रहे उतना उस बात को बोल जाये इस ढंग से स्वाध्याय चले तो कुछ समय बाद आपको ऐसा मासूम होगा कि मैंने ज्ञानार्जन किया और यह पाया और एक शान्ति का मार्ग मिला।

(६८) महान् अजायबघर—यह संसार क्या है, मैं कौन हूँ और यहाँ मेरा क्या कर्तव्य है। मुझे आगे क्या होना चाहिए ? कुछ इन बातों पर दृष्टि दी जाये तो इस जीव की भलाई का मार्ग निकलता है। यह संसार क्या है? जन्म मरण करते हुए जीवों का समुदाय ही यह संसार है। जीव अनेक प्रकार के हैं—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, नारकी, देव, पशु-पक्षी मनुष्य आदिक अनेक जीवों का समुदाय यह संसार है, और वे सभी जीव जन्ममरण के दुःखी नाना विकल्पों के संताप से संक्लेश में पड़े हुए हैं इन जीवों का जो समूह है सो संसार है। यहाँ जो कुछ भी दिखता है इसमें सार का नाम नहीं है। मेरे आत्मा का किसी भी परपदार्थ से कोई हित न होगा। कुछ भी सम्बंध बना लें व्यर्थ का सम्बंध, मिथ्या सम्बंध। प्रत्येक अणु-अणु स्वतंत्र है, प्रत्येक जीव स्वतंत्र है, सबको अपने-अपने कर्मोदय से सुख दुःख है। और मान लो जो जीव आपके घर में पैदा हुए, मानो ये न आये होते, कोई भी जीव आया होता तो उसे भी मानते कि यह मेरा है। तो जीव से तो कोई नाता नहीं हैं, और फिर उनसे कोई हित की आशा नहीं, भलाई की आशा नहीं। यह कोई उनको गाली नहीं दी जा रही। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि कोई भी जीव कोई भी वस्तु अपना गुण, पर्याय, प्रभाव दूसरे को नहीं दे सकता है। यह वस्तु की सीमा है। वस्तुस्वरूप की ही बात कही जा रही है। तो ऐसे इन अनेक पदार्थों के समूह का नाम संसार है। यह तो एक अजायबघर है। लोग अजायबघर देखने टिकट लेकर जाते, समय खोकर जाते। वह अजायबघर आया कहाँ से ? अरे यही का जो यह जीवसमूह है इस जीवसमूह में से कुछ इकट्ठा करके एक जगह रख दिए गए हैं, कुछ अन्य-अन्य देशों से भी ला लाकर इकट्ठे किए गए हैं। अजायबघर तो यह देखने के लिए बनावटी है और जितना बड़ा यह अजायबघर बनाया इससे असंख्यात गुणा ऐसा यह सारा संसार अजायबघर है। जैसे अजायबघर में भी देखने भर की इजाजत मिलती है, छूने की इजाजत नहीं मिलती, इसी प्रकार इस अजायबघर संसार को देखने की इजाजत है, छूने की इजाजत नहीं है, रागद्वेष करने की, लगाव बनाने की इजाजत नहीं है प्रभु की। लेकिन प्रभु के आर्डर के खिलाफ जो यहाँ इन वस्तुओं को छुवेगा, लगाव रखेगा, मोह रखेगा वह गिरफ्तार होगा, कर्मबन्धन में आयेगा, उसको बड़ा दण्ड मिलेगा। जन्म मरण से बढ़कर और दण्ड क्या है जीव को ? तो संसार का ऐसा स्वरूप है।

(६९) मैं कौन हूँ इसकी प्रबल जिज्ञासा में समाधान की सुगमता—अब चलो अपनी बात देखो मैं कौन हूँ, मैं कौन हूँ, इस प्रकार अनेक बार प्रश्न कर करके यह स्वयं उत्तर पा लेगा। पहले तो इस जीव पर

इतना व्यामोह पड़ा है कि ऐसा प्रश्न ही नहीं उठाना चाहते हैं कि मैं कौन हूँ । प्रश्न ही अगर कोई उठाये कि मैं कौन हूँ तो समझो कि उसे ऐसा करने का भाव हुआ है । मैं कौन हूँ, ऐसा जो प्रश्न करता है, जानता है, ऐसा समझदार पदार्थ हूँ मैं । उसकी विशेषता है जानन की । बाहर के पदार्थ का स्वरूप तो एक पिण्ड रूप है । सामने दिखता है, ऐसा आकार है, यह मालूम होता है और अपने आपमें आपका स्वरूप कैसा मालूम होगा कि केवल ज्ञान ज्ञान भाव है, वह ही है मैं आत्मा । जो सहज ही अनाकुलता सहित है ऐसा ज्ञानस्वरूप हूँ मैं यह आत्मा । यह इसका एक स्वभाव है । स्वभाव किसी से उधार नहीं मिला । स्वभाव पदार्थ की स्वयं जान है । स्वभाव नहीं तो सत्ता नहीं, ऐसा ज्ञानस्वभाव होकर भी जो वर्तमान में हमारी स्थिति हो रही, वह एक बड़ी दयनीय स्थिति है । कहां बाहर चित्त रहता है? किस किसका उपयोग चलता है, किस किसमें चित्त रमा करता है, विकल्प उठता है । व्यर्थ की कल्पनायें जगती हैं और दुःखी होते हैं, यद्यपि यह सब भ्रमवश हो रहा है, पर भ्रम करने की भी तो कुछ मलिनता ही तो है ।

(७०) ज्ञानस्वच्छता के तिरोधान से मलिनता की प्राकृतिकता—प्रश्न होता है कि ऐसी मलिनता इस जीव में क्यों आयी ? भले ही कर्म का सम्बंध है, रहा आये । एक बोरे में गेहूं चने इकट्ठे रहते हैं तो इससे कहीं गेहूं चना नहीं बन जाते । गेहूं तो गेहूं ही रहता है । कर्म और जीव ये दोनों एक साथ रहते हैं, रहे आये, फिर जीव अपने स्वभाव को तजकर ऐसा बन कैसे गया? अगर कहो कि भाई गेहूं चने का तो बहुत विषम दृष्टान्त है, अच्छा, तो चलो—दूध पानी का दृष्टान्त लो । दूध और पानी एक साथ आये हैं और स्वाद में भी जो पीवे भिन्नता मालूम होती है, फिर भी दूध के जो कण हैं उनमें दूध ही है, पानी के जो कण हैं उनमें पानी ही है । तो वे कहीं एक तो नहीं हो गए । स्वभाव तो नहीं बदल गया । यहाँ जीव में क्यों आफत आयी? भिन्न है । एक मोटा दृष्टान्त है । अच्छा, तो और चलो, जैसे स्वर्णपाषाण है, मिट्टी है उसमें स्वर्ण है, स्वर्ण मिट्टी ये दोनों एक साथ हैं और उससे स्वर्ण का विकास नहीं है, विकास करने से विकास होता है, हो फिर भी मिली हुई हालत में भी जो स्वर्ण के कण हैं वे तो स्वर्ण ही हैं, वह दूसरा तो नहीं बन गया, ऐसे ही जीव और कर्म दोनों एक साथ मिले हैं, मिलें, पर जीव तो एक ही है । वह अन्यरूप कैसे हो गया? भाई यह स्वर्ण पाषाण का भी दृष्टान्त मोटा है । तो अच्छा और देखो—जैसे दर्पण के सामने कोई लाल पीला पदार्थ आया है, दर्पण में लाल पीला प्रतिबिम्ब पड़ गया है, दर्पण कैसे बन गया? उस समय लाल पीला प्रतिबिम्ब रूप हो गया । क्या किया वहां? स्वच्छता की हानि । इसी प्रकार आत्मा और कर्म कर्मविपाक सामने आया और उसकी झाँकी हुई इस आत्मा के उपयोग में । उस समय यों समझिये—जैसे ज्ञान में कोई पदार्थ आता है तो ज्ञान जैसे उस पदार्थ में प्रतिबिम्ब रूप हो जाता है तो ऐसे ही यह कर्मविपाक यह अंधकाररूप है, और वह अंधेरा इस पर छा गया है तो यह समझ भी नहीं पाता कि मेरे में कर्म आये हैं, कर्मविपाक झलके हैं और न समझकर भी प्रभाव इस पर वही होता है कि जैसे स्वच्छता की हानि होनी चाहिए और चूंकि इसमें विकार करने की आदत है तो भीतर में विकार करने की गुंजाइश तो रहती नहीं, क्योंकि कर्मविपाक का अंधेरा छाया है । तो यह बाहर के पदार्थों का उपयोग करने लगता है । यों ही आत्मा में विकार की विधि

होती है। स्वभाव है केवल ज्ञातादृष्टा रहने का और वह स्वभाव कहीं गया नहीं। विकार होने पर भी स्वभाव रहता है, पर वह स्वभाव तिरोभूत है। इसका तिरस्कार भी विलक्षण है। यह तिरोभाव इस प्रकार नहीं है जैसे कि कभी किसी त्यागी का आहार कराते कमरे में और कमरे में रखी हैं बहुतसी गड़बड़ चीजें, तो एक रंगीन चद्दर उस पर ढक दी जाती है, जिससे कि एक शोभा हो जायेगी, चीजें दिखेंगी नहीं। तिरोभाव हो गया उन चीजों का, इस तरह का तिरोभाव यहाँ नहीं है। यहाँ इस तरह का तिरोभाव है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब पढ़ने पर स्वच्छता का तिरोभाव है।

(७१) सहजानन्दमय निजतत्त्व के आश्रय में कष्ट की अघटना—हम सब स्वरूपतः ज्ञानानन्द के निधान हैं। कोई कभी नहीं है। कोई कष्ट नहीं है, किसी प्रकार की आकुलता का अवकाश ही नहीं है, अपने को देखें अपने में रमें, किसी प्रकार का क्लेश ही नहीं है, लेकिन अपनी ईमानदारी से जब यह जीव हट जाता है और जिससे कुछ लेनदेन नहीं, सम्बंध भी नहीं उसके विचार में आ जाता है तो इसको कष्ट होना प्राकृतिक ही है। अपने को देखो—मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। कर्मपादि के सत्रिधान में उसकी आदत संसार में रुलने की, विकल्प करने की हो रही है। मैं अपने स्वभाव को परखूँ, स्वभाव में आलम्बन लूँ तो इन सारे विकारों को मैं छोड़ सकता हूँ। देखो काम दो है—चाहे किसी जीव को अपना परिवार कुटुम्ब पुत्र मित्र मान मानकर विकल्प कर करके कर्मबन्ध करके संसार में रुल ले या समग्र परवस्तुओं से मोह हटा-हटाकर अपने ज्ञान प्रकाश में आकर ज्ञानस्वरूप में तृप्त होकर मोक्षमार्ग बनाकर मुक्त हो लें। तीसरी बात तो कुछ होती नहीं। अब इनमें जो बात पसंद हो, संसार का रुलना अच्छा लगे तो उसका भी उपाय सही सामने है, मोह करें, दुःखी हो, जन्म मरण करें, पेड़ पौधे बनें, जिस चाहे हाल में हों उसका भी उपाय बिल्कुल पास है, कोई अधिक खोजने की जरूरत नहीं और मुक्त होना चाहते हो तो आत्मा का ज्ञान करो, सबसे मोह हटाओ, बड़ी दृढ़ता पूर्वक सत्य निर्णय के साथ मेरा मात्र मैं हूँ, मेरा अन्य कुछ नहीं है। अपने ज्ञान प्रकाश में आये, ज्ञानस्वरूप में तृप्त हों और भावना रखें मुक्ति मिले।

(७२) अज्ञानियों की कष्टप्रियता—मुक्ति की बात होनहार भव्य जीवों को मिलती है। दिखता भी है संसार में कि प्रायः मनुष्य धनसंचय की ओर, कीर्तिसंचय की ओर दौड़ रहे हैं। प्रायः सभी मनुष्य ऐसे पाये जाते हैं। बिरले ही मनुष्य हैं ऐसे कि जो धन की परवाह न रखें, बाहर के समागम में चाह न जगे, अपने भाव को पवित्र बनाने की ही भावना रहती हो। होता क्या है कि यह बिरला पुरुष इन विषय साधनों की ओर दौड़ लगाने वाले श्रीमानों को पागल दिखे, पर वह बिरला पुरुष भी इन मोहियों को पागल समझता है। अब यह बिरला पुरुष अनेकों के द्वारा पागल के रूप में देखा जाने से वह अनेक विकल्प करे और उन ही जैसा बन जाये वह भी ज्ञान से हटकर अज्ञान में आ जाये ऐसा तो होना युक्त नहीं है। जिसका होनहार अच्छा है वह दूसरे के किसी भी प्रकार कहे जाने पर भी अपने ज्ञान विवेक को नहीं छोड़ता। साथी यहाँ किसी का कोई नहीं है, केवल एक अपना भाव ही साथी है। कुछ लोग यहाँ साथी बन रहे हैं तो वे आपके पुण्योदय का निमित्त पाकर बन रहे हैं। पुण्य आपको मिला कैसे? कुछ भाव सही बनाया तो वर्तमान में कुछ

लोग पूछने वाले हो रहे हैं तो उसका आधार है आपकी सद्भावना । ऐसा कहीं नहीं देखा जाता कि कोई अन्याय अत्याचार करने पर उतारू हो और उसका लोग साथ निभाते हों । सब अपने भावों का फल है । जिस पर जो बीतता है उसका कारण है स्वयं का भाव । सोचता है अपने लिए कि क्या करें कि जिससे मेरा हित होगा । ये बाहरी पदार्थ रमने के योग्य नहीं, जिन्दगी में अनेक धोखे होते हैं, उन चोट और धोखों से सावधानी तो आ जानी चाहिए, लेकिन नहीं आ पाती तो इसमें महान मिथ्यात्व ही कारण समझिये । जैसे किसी बुझे को उसके घर के नाती पोते सतायें, कहीं हाथ झकझोरें, कहीं सिर पर चढ़े, कहीं मूँछ पटाये, तो वह बूढ़ा बड़ा हैरान होकर रोने लगता है । वहाँ कोई संन्यासी आया, पूछा—भाई क्यों दुःखी हो रहे हो? तो वह बूढ़ा बोला—क्या बतायें संन्यासी जी, हमारे ये नाती, पोते बगैरह हमें बहुत हैरान करते हैं । तो वह संन्यासी बोला—क्या मैं आपका दुःख मेट दूँ?....हाँ हाँ, आपकी बड़ी कृपा होगी । वह बूढ़ा तो जानता था कि संन्यासी जी कोई ऐसा मंत्र पढ़ देंगे कि जिससे ये नाती-पोते सब हमारी आज्ञा में, हमारी हूँ हजूरी में रहने लगेंगे । पर संन्यासी बोला—अच्छा तुम इन नाती पोतों का साथ छोड़ दो, चलो हमारे साथ चलो । तो वह बूढ़ा बोला—अरे संन्यासी जी तुम क्या कह रहे हम नहीं जाते तुम्हारे साथ । ये बच्चे चाहे मारे पीटें, फिर भी ये हमारे नाती पोते ही रहेंगे, हम इनके बाबा ही रहेंगे । तुम कौन बीच में दलाली करने आये । हमें ये चाहे, मारें, पीटें, हैरान करें, कुछ भी करें पर हम इन्हें छोड़कर नहीं जा सकते । तो देखिये—जिस मोह के कारण हैरान होते रहते, उसे छोड़ना भी नहीं चाहते । जैसे बहुत-बहुत दुःखी होने पर भी भीतर का मोह नहीं निकलता, दुःखी होना पड़ता । ऐसे ही इस जीवन में किसको दूसरे पदार्थ के निमित्त से संकट नहीं आता? सभी पर संकट आते, पर उन्हें ज्ञानी पुरुष संकट ही नहीं मानते ।

(७३) धार्मिक वातावरण की प्रयोजकता—घर में रहने वाले दो चार जीवों से संपर्क बनाकर, उनमें आसक्त होकर अगर अनाकुलता चाहें तो यह बात असम्भव है । जैसे सूई के छिद्र में ऊंट का प्रवेश होना असम्भव है ऐसे ही पर के सम्पर्क से अनाकुलता प्राप्त करना असंभव है । हम कुछ साधना भी न करना चाहें और कुछ धर्म के ख्याल से उसमें अपना समय भी लगाना चाहें तो यह बात एक मझधार जैसी बात हो गई । हम किसका स्वाद नहीं ले पाये? धर्म का । धर्म का स्वाद लेना है तो कोई क्षण तो चित्त में आना ही चाहिए कि मेरा किसी से कोई संबंध नहीं । मैं एक अकेला हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा निहारने का कुछ चिन्तन तो करना चाहिए । मिलेगी मुक्ति, करेंगे संकट, पर कुछ साधना तो बनाना चाहिए । साधना तो करें नहीं और चाहें मुक्ति, तो यह तो एक बच्चों जैसी हठ है । बच्चे अज्ञानी ही तो कहलाते हैं । दार्शनिक शास्त्र में बताया है कि जो जिस विषय में ज्ञान नहीं रखता वह उस विषय में बालक कहलाता है । कोई बालक जल में तैरना सीखने गया । वह डूबने लगा तो घबड़ाकर किसी तरह निकला और मन में तो था कि मैं तैर लूँ मगर वहाँ बड़े कष्ट आये । पानी मुख में भर आया, किसी तरह निकला, लेकिन हठ उसकी यह कि मुझे तो तैरना सीखना है । वह रोने लगा । मां पूछती हैं—बेटा क्यों रोते हो?....मां मुझे तैरना सिखा दो ।....अच्छा, चलो तालाब में तुम्हें तैरना सिखा दें ।....अरी माँ ऐसा करो कि मुझे तालाब में तैरना न पड़े और तैरना आ जाये,

ऐसे ही यहाँ अज्ञानी जन ऐसी हठ करते कि मुझे साधना कुछ न करनी पड़े, मोह को रंच भी ढीला न करना पड़े और परमात्मसुख, निराकुलता की प्राप्ति हो जाये, तो उनकी यह बात कैसे सम्भव हो सकती है? कुछ करनी होगी धर्मसाधना, अपने सारे परिवार को एक धर्म के रंग में रंग देना बहुत आवश्यक है। कोई घर में रहने वाला पुरुष सोचता हो कि मुझे तो ज्ञानप्रकाश मिल गया है, मैं तो अपना उद्धार कर लूंगा, मेरे को क्या बाधा? तो भाई घर में रहकर अगर स्त्री पुत्रादिक पर भी वह धर्म का रंग न चढ़ेगा तो काम न चलेगा। तो आप अपने घर को धार्मिक बनायें। दृष्टि दीजिए, ऐसा काम बनावे कि जिससे इस संसार से मुक्ति मिले।

(७४) अपने को नियंत्रित कर निर्वाध होने का अनुरोध—यह श्रेष्ठ मनुष्यभव पाया है तो यहाँ स्वच्छन्द होकर जो मन चाहता है उसके अनुकूल प्रवृत्ति नहीं करना है, बल्कि इस मन को अपने आधीन करना है। जो मन में आये वह नहीं करना है किन्तु हम जैसा चाहें वैसा मन को करना है। ये इन्द्रियां विषयों में प्रवृत्ति करती हैं, ये आँखें जिसे देखना चाहती उसे मैं नहीं देखना चाहता, ये कान जो बात सुनना चाहते उसे मैं नहीं सुनना चाहता, यह जिह्वा जिसका भक्षण करना चाहती उसे मैं नहीं करना चाहता....., बल्कि जैसा मैं चाहूँ वैसा इन इन्द्रियों को करना होगा यही बात सब इन्द्रियों के विषय में है। ऐसा इन्द्रिय पर मन पर संयम हो, इतना बल हो तब तो कुछ आशा रखें कि हम धर्म मार्ग में आ सकते हैं, चल सकते हैं, लेकिन ऐसा साहस जो खो दे, दिन भर भी खाता रहने से न अघाय और रात को खाना पड़े ऐसा असंयमी जीव धर्ममार्ग में क्या लग सकता है? कोई भी साधारण ब्रत ले और कोई मौका पड़े ऐसा कि थोड़ी देर को ब्रत टूटता है तो टूट जाने दे फिर ब्रत पालेंगे, ऐसा कोई सोचे तो वह पुरुष ब्रत पालने के लायक नहीं रहता। साधारण सी भी बात हो और लोग समझायें यह तो मामूली बात है। किसी ने नियम लिया कि मैं आधे घंटे इस कमरे में ही बैठूंगा और मानो १० ही मिनट बाद कोई आ गया बात करने को। बाहर से दरवाजे पर खड़ा ही बात करता है या कोई बड़ा आदमी आ गया, उस समय यह सोचें कि जरा बाहर निकल लूँ उसमें क्या हर्ज होता, फिर अन्दर आ जाऊंगा। अरे जो संकल्प किया, जो नियम किया उसके खिलाफ जरा भी चले तो यहाँ आदत बन जाती है असंयत अनकन्ट्रोल्ड बनने की, अतः दृढ़ता होना कि कुछ भी कहें लोग तो भी हमें नहीं उठना है। कितना संयत करना है इस जीव को अपने आपके स्वरूप बोध में, इसका अनुमान कर लीजिए। क्या करना है? आत्मा को जानो, आत्मा में रमो? भ्रम हटाओ। दो काम एक साथ न होंगे कि भ्रम और मोह भी करते चले जावे और अपने को पवित्र अथवा धर्मात्मा भी बना ले। दो काम एक साथ नहीं हो सकते। विवेक बनावें कि मेरे आत्मा का लाभ किसमें है। जरा अपना स्वभाव तो देखो, सब कुछ आसानी से छूट जायेगा। जब तक बड़े स्वाद की चीज न खाये तब तक साधारण भोजन की उमंग रहती है। बढ़िया स्वाद आये तो घटिया को कौन पूछता है? ऐसे ही अगर आत्मीय आनन्द मिल जाये, आत्मवैभव के दर्शन हो जाये तो इन विषयों को कौन चाहे? आत्मवैभव के दर्शन करें और सच्चा बड़प्पन प्राप्त करें।

(७५) कष्टसहिष्णुता व तपश्चरण से आत्ममहिमा की प्रगति—वास्तविक बड़ा बनने का प्रयास करते रहे, आत्ममहिमा के उद्यम में बहुत कष्ट आवेंगे, बहुत उपर्युक्त आवेंगे उन्हें समता से सहन करें। तो भाई जो बड़ा

बना है वह बहुत-बहुत कष्टों को समता से सहन कर, विचलित न होकर अपने लक्ष्य में बढ़े चले जाने से ही महान् बन सका। वैसे लोक में कहते हैं ना, बड़ा नाम का एक पकवान होता है जो कि उड़द से बनता है। तो बड़ा बनने की भी देखो कैसी प्रक्रिया होती है? किसका बड़ा....बना उड़द का। खेत में उड़द था, खेत में था, लहलहा रहा था, अपने सही पोशाक में था। पहले उन्हें काटा गया और फिर बैलों के पैरों से दबोचा गया याने उसकी दाँय की गई। तो पहला आक्रमण तो यह हुआ कि बैलों के पैर से दबोचा गया। वहाँ से निकला तो चकिया के बीच में दला गया। उसके दो टुकड़े हो गए। देखिये उड़द पर कितने संकट आये तब वह बड़ा बना। यहाँ यह देखना है। दूसरा आक्रमण यह हुआ। तीसरे आक्रमण में उड़द की दाल को शाम को पानी में भिगो दिया, रातभर पानी में भीगे रहे। रातभर कोई मनुष्य इस तरह भीग सकता है क्या? रातभर भिगोया गया यह हुआ तीसरा आक्रमण, अब चौथे आक्रमण में क्या हुआ कि जैसे ही सुबह हुई कि उस उड़द की त्वचा को हाथों से रगड़-रगड़कर छुटाया गया याने छिलका निकाला गया। छिलका अलग हो जाने पर सफेद उड़द रह गया। ५वें आक्रमण में उसे सिल-बट्टे पर पीसा गया। इतने पर भी सन्तोष न हुआ तो छठे आक्रमण में उसमें धनिया, मिर्च डाल दिया, खूब भुरक दिया गया, ७वें आक्रमण में उसे खूब अच्छी प्रकार फेटा गया। ८वें आक्रमण में उसकी शक्ल बिगड़ दी गई। ९वें आक्रमण में उसे दबोच-दबोच करके एक प्रतर गोल सा बनाया गया। १०वें आक्रमण में उसे तपते हुए तेल में पटक दिया गया, फूल गया। ११ आक्रमण में उसके पेट में लोहे की पतली सींक पिरो दी गई, यह देखने के लिए कि कहाँ यह बड़ा कच्चा तो नहीं रहा। १२वें आक्रमण में उसे नमक के गर्म पानी में डुबो दिया। इतने आक्रमण झेलने के बाद उसका नाम बड़ा पड़ा। यहाँ एक भी आक्रमण झेलने को कोई तैयार है क्या? यद्यपि उड़द में जान नहीं, फिर भी दृष्टान्त का भाग देखें कितने आक्रमण उस पर हुए। यहाँ जरा-जरा से कष्टों में रो पड़ते हैं, दिल को बेचैन कर डालते हैं, किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। क्या करें, बड़ा संकट है। अरे संकट क्या? अपने आपको जाना तो सब संकट खतम। रह गई जिम्मेदारी की बात तो हम किसी के जिम्मेदार नहीं, सब अपने-अपने जिम्मेदार हैं। सबका कर्मादय है, उनके उदय से उनका भविष्य बनता है, हम जिम्मेदार नहीं उनके। मोह में जिम्मेदार बन जाते हैं। आप सोचेंगे कि गृहस्थी में तो इस तरह न बनेगा, हाँ न बनेगा, क्योंकि सब प्रकार के आराम चाहते हैं तो उसमें आपको राग करना पड़ेगा, तो वह राग सब व्यवस्था बनायेगा, पर मोह तो निकाल दो।

(७६) स्वतंत्रता की सुध भूलकर पराधीन विषयसुख की चाह में विडम्बना—सब जीव स्वतंत्र-स्वतंत्र हैं, किसी का किसी से नाता नहीं। सब अपने-अपने ही में कहाँ न कहाँ रहा करते हैं। मेरी तो एक जिम्मेदारी केवल मेरे पर है। अच्छा भाव बना लो तो भवितव्य अच्छा बनेगा, बुरे भाव बनायेंगे तो भवितव्य बुरा बनेगा। ऐसे इन बाहरी समागमों से जो उपेक्षा रखता है इस उपेक्षा से बिगड़ नहीं, बल्कि सुधार है। ऐसा ज्ञानी पुरुष आत्मदर्शन करके अनुकूल रहा करता है। तो करने का काम यह है लेकिन कर क्या रहे? जैसे कहावत में कहते हैं कि आये थे हरिभजन को, ओटन लगे कपास याने एक बड़ा काम प्रभुभक्ति करने को

आये थे, पर ऐसी विडम्बना में फँस गए कि वहाँ कपास ओटने लगे। कपास ओटने की बात क्यों कहा इस कहावत में कि दिन भर कपास ओटा तो कोई किलो दो किलो ओट पाये। यों सारा श्रम करके फल कुछ न मिला। तो आये तो थे आत्मकल्याण के लिए इस मनुष्यभव में, आत्मा को जानूंगा, आत्मा में रमँगा, आत्मा में ही तृप्त रहूंगा। भव-भव के कर्मबन्धन को मिटाऊँगा। समस्त आकुलतायें दूर करके अनाकुल शांत रहूंगा। आये थे इस काम के लिए लेकिन क्या करने लगे? पञ्चेन्द्रिय के विषय और मन के विषय में सुख मानने लगे। ये वैषयिक सुख पराधीन हैं। कोईसा भी सुख हो, उसमें कितनी आधीनता है। जितने भी वैषयिक सुख मिले हैं उनको सम्हाल रखते हैं। जो अपने आधीन बात नहीं है उसे करना पड़ता है। जो अपने पास नहीं था उसका संयोग जुटाना पड़ता है तब विषयसुख मिलता है।

(७७) **विषयसुख व कषाय की हठ का दुष्परिणाम**—एक मास्टर मास्टरानी थे। एक दिन दोनों के मन में आया कि आज तो पकौड़ी बननी चाहिए, तफरीका तो दिन था। मास्टर बाजार से सारा सामान ले आये और मास्टरानी ने पकौड़ी बनाया। वे पकौड़ी २१ तैयार हुई। सो मास्टरानी ने क्या किया कि मास्टर के सामने १० पकौड़ी परोस दी। मास्टर ने पूछा—तुमने अपने लिए कितनी पकौड़ी रख ली? ज्यारह। हम ज्यारह खावेंगे, तुम १० खाओ। नहीं, नहीं, हमने अधिक परिश्रम किया, हम ११ खावेंगे तुम १० खाओ। इस प्रकार की हठ दोनों में पड़ गई कि हम ११ खावेंगे तुम १० खाओ। बाद में यह निर्णय किया कि अच्छा अपन दोनों मौन से रहेंगे जो पहले बोल उठेगा उसको १० खानी पड़ेगी। आखिर दोनों मौन हो गए। एक दिन बीत गया, दो दिन बीत गए, दोनों अपनी हठ में जमें रहे। वहीं पड़ गए, तीन दिन हो गए। अब तो उनकी दमसी निकलने लगी। इधर स्कूल में बच्चों ने सोचा कि क्या कारण है जो दो-तीन दिन से मास्टर मास्टरानी नहीं आये सो बच्चे लोग उनके घर पहुंचे, द्वार के किवाड़ फाड़कर घर के अन्दर घुसे। देखा तो वहाँ दोनों मरे से पड़े हुए थे। लोगों को खबर हुई कि मास्टर मास्टरानी तो घर में मरे पड़े हैं। लोग जुड़े, दोनों को

एक ही गठरी में बाँधा, श्मशान ले गए, वहाँ लकड़ी कंडा आदि से चिता बनायी, आग लगाने को ही थे कि मास्टरानी बोल उठी—अरे चलो तुम ११ ही खा लेना, हम १० ही खा लेंगे। समय की बात कि उस दिन जलाने वाले लोग भी २१ ही गए थे सो वहाँ सभी ने सोचा कि देखो यह भूतनी (चुड़ैल) तो कहती है कि हम इन खड़े हुए लोगों में से १० लोगों को खावेंगे और इस भूत से कहती है कि तुम ११ लोगों को खा जाना, सो इस भय से उनमें भगदड़ मच गई। तो देखिये—एक जरासी पकौड़ी की तफरी करने में कितनी विडम्बना बन गई तो फिर संसार के इन वैषयिक सुखों की तफरी में न जाने कितनी विडम्बना बन जाये। ऐसी अनेक बातें तो गृहस्थी के बीच रोज-रोज आती होंगी। यह सारा संसार दुःखमय है। अरे सबसे निराले अपने इस ज्ञानानन्द स्वरूप को तकँ और आनन्द पाऊं। क्या कष्ट है? कष्ट आधीनता का है। अपने स्वरूप को सम्हालें तो इसकी सारी विडम्बनायें समाप्त हो जायें।

(७८) **भ्रान्तिज क्लेश के विनाश में सहजानन्दर्धम् का प्रादुर्भाव**—जैसे संसार में किन्हीं मनुष्यों को किसी

के प्रति कोई भ्रम हो गया हो और उस भ्रम के कारण उसके प्रति नाराजी रहती हो और कदाचित् वह भ्रम दूर हो जाये तो वह उमड़ करके प्रेम बरसाता है उस पर, इसी प्रकार भ्रम से आत्मा को कुछ और-और समझकर जो इसके प्रति अन्याय किया जा रहा है उस विषय को लेकर मोह रागद्वेष का लगाव रखकर जो इस आत्मा भगवान पर अत्याचार किया जा रहा है। किसी समय भ्रम मिट जाये तो भ्रम का विनाश होने पर इस आत्मदेव पर उमड़-उमड़कर उमंग में आकर बहुत तीव्र अनुराग जंचता है, जिसको अपने आत्मा के प्रति अनुराग है उसको अपने मोक्ष के प्रति अनुराग है। अपनी तो सब भलाई चाहते हैं, हर उपायों से अपने को आनन्द में रखना चाहिए। तो अपने को आनन्द में रखने की ही बात धर्म सिखाती है। धर्म कोई कठिन चीज नहीं, गैर चीज नहीं, परिश्रम की चीज नहीं, आफत की बात नहीं किन्तु हम चाहते हैं आनन्द तो सच्चा आनन्द मिले उसी का उपाय है धर्म। और और उपायों में तो बड़ा खेद होता है, श्रम होता है, कठिनाइयाँ आती हैं, पर धर्म का ऐसा भला सीधा उपाय है कि उसमें कठिनाइयों का काम नहीं, किसी तरह का उपद्रव नहीं। वह धर्म क्या है? इन्द्रियों का काम छोड़कर मन को भी बाहर में न जाने देकर इस मन को भी अपने में नियत बनाकर जो सहज विश्राम मिलता है उसमें जो अद्भुत निज ज्ञान का प्रकाश होता है वह उस आनन्द के अनुभव करने का नाम है धर्म। धर्म का अर्थ है अलौकिक सत्य, परम आनन्द लूटना। धर्म और आनन्द अलग-अलग चीज नहीं हैं। जो वास्तविक आनन्द का अनुभव है वही धर्म है। धर्म में खेद नहीं, किन्तु अपूर्व आनन्द प्रकट होता है।

(७९) असार भिन्न मायामय बाह्य वैभव से मोह तजकर धर्मपंथ में लगने का अनुरोध—भैया! विचार करो धर्म के पंथ में चलना क्यों कठिन लग रहा? अगर इस कारण कठिन लग रहा हो कि कोई वैभव की चिन्ता है, वैभव की आशा है, मेरा धन बढ़े, अमुक हो तो वहाँ समझ लीजिए वही कि धन वैभव तो जीर्ण तृण के समान असार है। किसी परिस्थिति में उपचाररूप थोड़ा काम आता है, इसलिए उसका कुछ लगाव तो होता है, पर उस लगाव को इतना लम्बा करना, उसे इतना दृढ़ करना, वह प्रयोजन से बाहर की बात हो जाती है। धन वैभव सब जीर्ण तृणवत् असार हैं मेरे आत्मा के हित के प्रसंग में। कल्पनायें करें, लाखों की सम्पदा जोड़ लें, आखिर होगा क्या? उम्र बढ़ती जा रही है, मरणकाल निकट आ रहा है। कभी मरण होगा ही, मरकर यह जीव न जाने कहाँ से कहा पैदा होगा। यहाँ की संपदा से भी लाभ क्या होगा? और अनेकों भवों में अनेकों सम्पदायें पार्यीं। उन सम्पदाओं से आपको यहाँ लाभ क्या है? तो वैभव जीर्ण तृणवत् असार है। शायद यह सोचा जा रहा हो कि वैभव बढ़ने से यहाँ लोक में इज्जत बढ़ती है और देखा भी जा रहा है, लेकिन जब ये लोग, यह समागम, यह समूह असार और बेकार है, मायारूप है तो माया से इज्जत की चाह करना कोई सही बात होगी या मायारूप बात होगी? जैसे नींद में स्वप्न में बड़े-बड़े राज्य भोगना यह सही बात है कि मायारूप है। इसी तरह मोह की नींद में ये कर्मों के प्रेरे दुखिया जन्ममरण से अपवित्र इन जीवों से अपनी इज्जत चाहना यह बात एक पागलपन है। और फिर वस्तुतः अपनी कोई इज्जत नहीं चाहता। जो यह देह मिला, जो इसकी यह मुद्रा है इसको ही समझता है कि यह मैं हूँ और फिर इसकी इज्जत की

बात मन में आती है। वे सब विनाशीक चीजें हैं। मैं शरीर नहीं हूं, इस शरीर से अत्यन्त निराला ज्ञानज्योतिस्वरूप आत्मा हूं।

(८०) अत्यन्त भिन्न दो पदार्थों की एकता के परिचय का महाब्यामोह—देखो भैया ! कितनी विभिन्न चीज हैं—शरीर तो जड़ है, शरीर में तो लहू, मांस, हड्डी आदिक अपवित्र चीजें हैं। और आत्मा परमात्मस्वरूप ज्ञानमयी ज्योतिर्मय है, जिसमें सर्व पदार्थों का ज्ञान होता है? कभी असली में नकली मिल जाये तो भी भ्रम की गुंजाइश समझो, मगर जीव के साथ तो नकली भी नहीं मिला, देह तो जीवस्वरूप से बिल्कुल विपरीत है। वहाँ भ्रम की तो यह विकट मूढ़ता है। कोई भ्रम कर ले तो लोग कहते हैं कि वह हो गया भ्रम, क्योंकि समान असली रूपया के लोभ में कोई मामूली नकली नोट मिल जाये और कोई उसको ही ले ले तो कहा जायेगा कि भाई भूल हो गई। मगर यहाँ असली नकली जितनी भी तो बात नहीं है कि असली आत्मा है और शरीर कुछ आत्मा की तरह मामूली नकली चीज है। बिल्कुल भिन्न है, विपरीत दशा है। जंगल में रीझ दिख जाये और उसमें कोई गाय का भ्रम कर ले तो वह अधिक पागलपन तो न कहा जायेगा और कोई किसी चिड़िया में ही गाय का भ्रम कर ले तो वह अटपट बात है? बिल्कुल भिन्न-भिन्न दो बातें हैं। कहाँ तो चिड़िया और कहाँ गाय। कोई दुनिया में ऐसा बेवकूफ न मिलेगा जो चिड़िया को गाय मान ले। वहाँ भ्रम का कोई काम ही नहीं। भ्रम तो वहाँ कहलाये कि जब उसके समान कुछ-कुछ बात हो। जब समानता जरा भी नहीं किसी भी बात में, शरीर और जीव में, फिर उसका भ्रम जो लग रहा है इससे अधिक और मूर्खता या पागलपन क्या कहा जाये? तो जैसे लोक में जो मूर्ख होता है, पागल होता है वह कष्ट पाता है। तो जो परमार्थ से मूर्ख है, पागल है, वह अगर जन्म मरण करने का कष्ट पाये, कीड़ा मकोड़ा पेड़ पौधा बनने का कष्ट पाये तो भी उचित ही है।

(८१) दुर्लभ सुविधाओं के सदुपयोग से अपूर्व लाभ उठाने का अनुरोध—इस भव में जहाँ इन्द्रियाँ ठीक मिली हैं, मन ठीक मिला है, यहीं यदि मन का सही उपयोग न करें तो एक तो जीवन बेकार है। दूसरे फिर यह मन और इन्द्रियां न मिलेंगी, हाँ स्पर्शन इन्द्रिय तो एक लाजमी चीज सी रह गई संसार में। वह इन्द्रिय तो न मिटेंगी, निगोद हो गए तो है लो एकेन्द्रिय मगर और-और इन्द्रियां न मिलेंगी। इसका सदुपयोग करें मन को सही मार्ग में लगायें और अपने आपमें अपने को खोजें और हित की बात लायें। लेकिन एक दीवानासा बन जाना पड़ता है। जैसे लोक में किसी स्त्री या पुरुष के प्रेम में दीवाना बन जाते हैं, जिसके ऊपर कथायें सनीमा वगैरह गढ़े जाते हैं। तो जैसे उन आसक्तों को और कुछ नहीं सूझता। सिवाय एक उस लक्ष्य में इस पद्धति का दीवाना बनना पड़ेगा अपने परमात्मस्वरूप के प्रति कि और कुछ न सूझे और यह चित्त में बात रहे कि मेरे को तो परमात्मस्वरूप होना है। इसके सिवाय मेरा और कोई प्रोग्राम नहीं। भीतर में एक मुख्य प्रोग्राम बन जाये तो यह मानव-जीवन सफल है। इसके लिए उद्यम क्या करना है कुछ समय भी देना, मन न लगे तो भी मन लगाना, नियम जानकर लेना। नियम इसलिए लिया जाता है कि मन न लगे तो भी उस काम को करे, फिर मन लग जायेगा। तो घंटा पौन घंटा अपना निजी स्वाध्याय करना,

दूसरे को कुछ सिखाना बताना, ज्ञान की बात में घंटा डेढ़ घंटा प्रतिदिन समय नियमपूर्वक लगाते रहें तो अपने आपमें अपने अर्जन की बात बन जायेगी कि मैंने ज्ञान का अर्जन किया, संतोष मिल जायेगा, शान्ति मिलेगी और इस दुनिया में इन लोगों की बातें देखकर भीतर में भटकने या विहळ होने की बात न उत्पन्न होगी। पुण्यरस बढ़ेगा, धर्ममार्ग मिलेगा, सही काम में, सच्चे ज्ञान में सत्य श्रद्धा से रहने में अनेक लाभ हैं। जब तक दुनिया में रहेंगे तब तक वैभव सम्पन्न रहेंगे। जब यहाँ से मुक्त होंगे तो अनन्त आनन्द को पा लेंगे। उसके लिए चाहिए विधिपूर्वक ज्ञान का उद्यम।

(८२) अपने काम का ज्ञान—सत्य ज्ञान पाने के लिए ७ तत्त्वों की जानकारी प्रथम आवश्यक है। जैसे तत्वार्थसूत्र में कहते—जीवाजीवास्त्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वं, अर्थात् जीव, अजीव, आस्त्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व हैं। जीव क्या? जो चेतन है। जिसमें ज्ञान है सो जीव। और अजीव क्या कि जीव के साथ जो अजीव लगा, कर्म लगा, कोई दूसरी चीज लगी, उपाधि लगी, कोई विरुद्ध चीज लगी, जिसके कारण विकार होता सो अजीव। जब कभी पदार्थ में विकार होता है तो पर सम्बन्ध के बिना नहीं होता। पानी गर्म होता, तो पानी के खिलाफ है आग। आग का सम्बंध पाया तो गर्मी हुई। कोई चीज अपने स्वभाव को छोड़कर विपरीत बात में लगे तो समझना चाहिए कि वहाँ किसी उल्टी चीज का सम्बन्ध है। तो जीव से उल्टा है कर्म। उस कर्म का सम्बन्ध है जीव के साथ, वह है अजीव तत्त्व। तो जीव और अजीव में दो बातें आयीं। जीव मायने यह मैं जीव आत्मा। अजीव मायने कर्म। जीव में कर्म आये उसका नाम है आस्त्रव। अब जीव में वे कर्म ठहर जायें उसका नाम है बंध और जीव में नये कर्म न आयें ऐसा ज्ञान बने, ऐसा वैराग्य जगे जिससे कि कर्म न आये उसे कहते हैं संवर और जो पहले बांधे हुए कर्म हैं वे झट्ठ जाये उसका नाम है निर्जरा और सब कर्म झट्ठ जाये उसका नाम है मोक्ष। देखो जैनधर्म की यह अआ इ ई बतला रहे हैं। अब व्याख्यान आजकल ऐसे हो गए, और कुछ लोग भी ऐसे ही शौकीन हैं कि जो मूल बात है उसकी तो कुछ बात नहीं और सुनते जाओ, पचासों भी प्रयोजन सुनो, और मूल बात क्या है, तत्त्व क्या है, द्रव्य क्या है? इसकी बात आ ही नहीं पाती। किंतु इतनी बात समझे बिना मुक्ति का मार्ग मिल नहीं सकता। मैं जीव हूँ। उसके साथ कर्म लगे हैं, कर्म आते हैं, कर्म ठहरते हैं, यहाँ तक तो आफत-आफत थी और कर्म आना बन्द हो, बंधे कर्म झट्ठे तो उसका फल है मोक्ष होना।

(८३) कर्मों से छुटकारा पाने की विधि का दिग्दर्शन—अब यह बात कैसे हो कि कर्म झट्ठ जायें? इस पर विचार कीजिये तो जैसे गीला कपड़ा सूखने डाला और वह नीचे गिर गया, धूल लग गई तो क्या करते हो कि फिर सूखने डाल दिया, कपड़ा सूख गया, डिटक दिया, धूल झट्ठ गई। तो धूल के चिपकने का कारण तो गीलाई है। गीलाई न रहे तो कर्म झट्ठ जायेंगे। कर्म के आने का कारण है रागद्वेष मोह। रागद्वेष न हों तो कर्म अपने आप झट्ठ जायेंगे। जो बात जिस ढंग से करने की है उसकी सिद्धि उसी ढंग से मिल सकती है और उपाय से नहीं और उपाय कितने ही किये जायें वे मुक्ति के कारण नहीं। मुक्ति का कारण है सबसे निराला अपने आत्मतत्त्व को परख लेना, यह मैं हूँ। जो परख लेता उसको क्यों धीरज बनता? क्यों

नहीं घबड़ाता? उसने परख लिया कि यह मैं हूँ। इसमें कष्ट का कोई काम नहीं, इसमें कोई अपूर्णता नहीं। उसे तो जीवन मुक्त सा समझिये। बाहर की कुछ परवाह नहीं। बाहर जो होता हो सो हो। एक अहाना है ना—लेवा मरे या देवा बलदेवा करे कलेवा। एक बलदेवा नाम का दलाल था गेहूं अनाज बिकवाने का। तो बाहर का एक गाड़ी वाला आया, उसके गेहूं उस दलाल ने बिकवा दिया एक दुकानदार को, पर ऐसे वातावरण से बिका कि गाड़ी वाला तो यह सोचता है कि मैं ठग गया, मैंने सस्ता बेच दिया और खरीदने वाला सोचता है कि मैं ठग गया, मैंने महंगा खरीद लिया। सो वे दोनों तो उदास बैठे थे। अब उस समय बलदेवा ने अपनी कपड़े की पोटली से नाश्ता (कलेवा) खोला और एक नीम के पेड़ के नीचे बैठकर कलेवा करता हुआ कहता जाये—लेवा मरे या देवा, बलदेवा करे कलेवा अर्थात् हमें लेने वाले और देने वाले इन दोनों से क्या हानि? इनमें कोई चाहे जो कुछ सोचे चाहे जिसे नुक्सान हो तो हो हमें तो अपने कमीशन भर से मतलब है। तो ऐसे ही यह ज्ञानी पुरुष जानता है कि बाहरी पदार्थों में कुछ परिणमन होता है तो होने दो जिसका जैसा होना है वैसा होगा। ज्ञानी पुरुष को भीतर में अशान्ति नहीं रहती, धीरज रहता है।

(८४) धीरता व अधीरता की मनोविकल्प पर निर्भरता—भैया! देखो—मन के हारे हार है मन के जीते जीत। विपत्ति तो किसी पर कुछ नहीं है। वह तो मानने की विपत्ति है। जब आत्मा एक अकेला है। इसमें कुछ चिपका नहीं, ज्ञानमात्र है। तो विपत्ति क्या चीज़? क्या कष्ट? पर कल्पनायें किया, मोह किया, अज्ञान बनाया, पर को अपनाया तो वह कष्ट हो गया। अब वह कष्ट क्यों, ज्यादह लगता कि दूसरे भी मोह के अनुरूप बात कहते, दूसरे भी उसके लिये कष्ट की बात कहते। मोही-मोही ही तो सब बसे हैं। तो उनकी बात सुनकर लगता कि, हाँ कष्ट तो है?। जब वैसी ही बात और लोग कह रहे हैं तो अपने आपको भी समझते हैं कि हाँ इसमें कष्ट की बात तो जरूर है? क्योंकि सभी उसी प्रकृति के लोग हैं। वैसा ही कहते हैं जैसी बात दूसरों की देखी, दूसरों से सुनी, वैसी बात पर यह विश्वास कर लेता है बार-बार सुनने से। अगर यह भेद ज्ञान की बात तत्त्वज्ञान की बात आपको अनेकानेक बार सुनने को मिले तो आपका चित्त भेदविज्ञान के अनुरूप चलेगा। अब जैसी बात सुनने को मिलती है रात दिन चित्त उसी तरफ तो जायेगा। तो बाँचकर देखें, उपदेश से देखें, तत्त्व ज्ञान की बात अधिक आये तो वहाँ बात बने और वहाँ हृदय अनुकूल है। एक छोटी सी कथा है कि कोई पुरुष एक अच्छी बकरी लिए जा रहा था, तो चार व्यक्तियों ने देखा कि बहुत सुन्दर बकरी है, इसे तो छीनना चाहिए। तो उन चारों ने सलाह कर ली और सलाह के माफिक वे एक-एक मील पर जाकर आगे खड़े हो गए। तो जैसी सलाह की थी वैसा ही सभी ने बोला। पहले मील में जो आदमी मिला उसने कहा राम-राम यह क्या लिए हुए हो कुत्ता सा? उसने वह बात अनसुनी सी कर दी सोचा कि मैं तो अच्छी बकरी लिए जा रहा हूँ। आगे गया तो दूसरा बोला—अरे यह कुत्ता कहाँ से लाये? तो वह कुछ शंका करने लगा, अरे मैं कुत्ता ही तो नहीं ले आया, मैं तो ६५ रुपये दे आया। और आगे गया तो एक मनुष्य और बोला—वाह वाह इतना सुन्दर कुत्ता कहाँ से लाये? उसे और सन्देह हो गया। चौथे मील पर पहुंचा तो वहाँ भी चौथे पुरुष ने वही बात कही—वाह वाह कितना अच्छा कुत्ता लिये चले जा रहे हो? कहाँ

जा रहे इस कुत्ते को लादे हुए? उसने सोचा—अरे मैं तो धोखे में आ गया। कुत्ता खरीद लाया, लो वहीं छोड़कर चला गया। वे तो चाहते थे ही सो उस अच्छी बकरी को उठाकर ले गए।

(८५) अत्यन्त विलक्षण स्व पर में स्वत्व के भ्रम का विकट व्यामोह—भैया! आप लोग सोचते होंगे कि क्या कोई इतना भी बेवकूफ हो सकता है? कुत्ता और बकरी में तो खासी पहिचान है। कहीं कुत्ता और बकरी में इतना अन्तर होता है क्या? आप लोग सोचते होंगे कि वह बकरी वाला बड़ा बेवकूफ था। अरे भाई कुत्ता और बकरी में तो थोड़ा भ्रम हो सकता है, क्योंकि ४ टाँगें उसके भी ४ टाँगें उसके भी। कोई ज्यादह अंतर नहीं, मगर यह तो इतना बेवकूफ है कि जहाँ इतना अधिक अन्तर है कि एक तो है जीव और एक है अजीव, मगर उसे एक मानता है, वह उससे अधिक मूढ़ता है तभी तो अनुभव करता है कि यह मैं हूँ, इसने मुझे गाली दी। इसने मुझे यह कहा। अब देखो बकरी और कुत्ते में तो कुछ समानता है। अगर बकरी को मान लें कि कुत्ता है तो यह अधिक गाली नहीं, मगर यहाँ जीव अजीव में तो रंच भी सम्बंध नहीं, शरीर जड़ है, जीव चेतन है, शरीर हाड़, माँस वाला है, जीव आकाश की तरह अमूर्त है, कुछ समानता तो नहीं, मगर यहाँ भी भ्रम कर बैठते हैं, कर ही रहे हैं—“देह जीव को एक गिनें, बहिरातम तत्त्वमुद्धा है।” जो शरीर और जीव को एक जानता है वह बहिरात्मा है। तो जब ७ पदार्थों का सही ज्ञान होता और उन ७ तत्त्वों को जानकर ७ तत्त्वों में रहने वाला जो एक चैतन्यस्वरूप है; एक ब्रह्म है, अद्वैत ब्रह्म है, इसके बारे में चर्चा करते हैं, ऐसा जो ९ पदार्थों में रहने वाला एक अद्वैत अन्तस्तत्त्व है उसकी जिसे श्रद्धा हुई, उसका जिसे दर्शन हुआ उसका बेड़ा पार है और जो यहाँ मोह-मोह में ही कीड़ा—मकोड़ा बन गया तो उसका पूरा नहीं पड़ सकता। तो जो बड़ा अच्छा लग रहा है मोह उसके छोड़े बिना तो हित हो ही नहीं सकता और उसका छोड़ना बड़ा कठिन लग रहा, पर है सरल चीज। इसके होते ही ज्ञान का छूटना जरूर कठिन है, मगर मोह का छूटना तो सरल है। ज्ञान जगा तो मोह छूट गया याने उल्टा ज्ञान न बने इसी के मायने हैं निर्माहता, और विपरीत ज्ञान बने उसके मायने हैं मोह। सच्चा ज्ञान जग जाये। जीव-जीव सब जुदे हैं, उनके कर्म उनके साथ हैं, मेरे कर्म मेरे साथ हैं, ये मेरे कुछ नहीं, मैं इनका कुछ नहीं। थोड़े दिनों के लिए ये आये, थोड़े दिन को मेरे साथ हैं। थोड़े ही दिनों में ये अपनी-अपनी करनी के अनुसार अपनी-अपनी गति में पहुंच जायेंगे। जब ऐसा ज्ञान होता है तो वहाँ ज्ञानप्रकाश है और वहाँ भीतर में आकुलता नहीं हो सकती।

(८६) सत्य आनन्द के लाभ के अर्थ मन को शुभ कार्य में नियन्त्रित कर आत्मधुन बनाने की आवश्यकता—आचार्यों ने जो शास्त्रों में बताया है वह सब हमारी चाह के मुताबिक बताया है। हम सब लोग चाहते हैं आनन्द। तो उन्होंने जो कुछ बताया है वह आनन्द मिले ऐसे उपाय को बताया है। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि ये ग्रन्थ तो कष्ट हैं। इनका पढ़ना-लिखना, याद करना ये कष्टरूप हैं, विपत्तिरूप हैं, खूब खावो पियो मौज करो,....लेकिन ये शास्त्र इसीलिए बनाये गए कि आनन्द मिल जाये। जीव जो चाहता है उसी का ही इसमें वर्णन है, पर यह जीव भ्रम में समझता है कि आनन्द हमें इन-इन बाह्य उपायों से मिलेगा। पर आनन्द मिलने का उपाय केवल एक ही आन्तरिक है। हमारी वर्तमान परिस्थिति जो है उसमें सम्भवतया हम

कर नहीं सकते ऐसा कि निरन्तर ज्ञान में ही मग्न रहें, यह मन उचकता है। तो कर्तव्य होता है कि इस मन को अच्छे काम में शुभ काम में लगायें और बीच-बीच यथा समय फिर अपने उपयोग को अपने आत्मा में लगाते रहे, ऐसी जीवनचर्या होनी चाहिए। इस मन को बन्दर की उपमा दी है साहित्यकारों ने। जैसे बन्दर बड़ा चंचल होता है, वह स्थिरता से बैठ नहीं सकता। कभी हाथ हिलायेगा, कभी पैर हिलायेगा, कभी सिर हिलायेगा, कभी अपनी आँखें मटकायेगा, अपनी आँख की टोपी कभी ऊपर कभी नीचे करता रहता है। यों बन्दर बड़ा चंचल होता है, वह कभी स्थिरता से नहीं बैठता है। तो जैसे बन्दर चंचल होता है इसी प्रकार मन को बताया है कि मन बड़ा चंचल होता है। भला बतलाओ—पुराणों में एक कथन आता है कि भगवान के सामने जाकर किसी ने पूछा कि इस समय अमुक मुनि के कैसे भाव हैं? वह मोक्ष कब जायेगा? कुछ भी पूछा, तो वहाँ बताया कि अभी एक क्षण पहले तो ऐसे भाव थे कि मरता तो नरक जाता और क्षण भर में बताया कि ऐसे भाव हुए कि मरण करे तो स्वर्ग जाये। बड़े-बड़े लोगों के ऐसे भाव परिवर्तित होते हैं। तो इस मन को मर्कट बताया सो ठीक बात है। तो ऐसे मर्कट मन को वश में करने के लिए उपाय है—शुभोपयोग। न करे शुभोपयोग तो सामर्थ्य तो नहीं है शुद्धोपयोग की, सो अशुभोपयोग में जायेंगे। तो शुभोपयोग होता रहे, किन्तु शुद्धोपयोग की धुन बनाये रहें, ऐसा वातावरण होना चाहिए।

(८७) मन को नियंत्रित कर देने में संतोष के अवसर का एक दृष्टान्त—एक राजा को एक देवता सिद्ध हो गया सो कहा—राजन्, हम तुम पर प्रसन्न हैं। हम सिद्ध हो गए हैं, तुम काम बताओ हमको। जो भी काम बताओगे उसे तुरंत कर देंगे, और यदि काम न बताओगे तो तुम्हें मार डालेंगे। ऐसा कठिन देवता सिद्ध हो गया। राजा बड़ा प्रसन्न हुआ, सोचा कि बहुत बड़ा कमाऊ देवता मुझे मिल गया, सो काम बताने लगा। अच्छा, बगीचा तैयार कर दो, तैयार हो गया।....काम बताओ।....एक तालाब तैयार कर दो, तैयार हो गया,...काम बताओ,...सड़क बना दो, बन गयी,...काम बताओ। अब राजा को विशेष चिन्ता हुई कि यदि काम न बतावेंगे तो यह मुझे मार डालेगा, और पुरानी याद आ गई कि मैं व्यर्थ खुश हुआ था, यह तो मेरे लिये काल बन गया। बहुत चिन्तित रहे और बताता जाये। एक बार उसे एक उपाय सूझ गया। कहा—कोई ५० हाथ लम्बा लोहे का डंडा गाड़ दो,...गड़ गया,...काम बताओ।....बंदर बन जाओ। बन गये, काम बताओ, इसमें एक ७० हाथ लम्बी पतली जंजीर एक सिरे में बांध दो।....बांध दिया, काम बताओ।....जंजीर का एक सिरा अपनी गर्दन में बांध लो।....बांध लिया।....काम बताओ।....देखो जब तक हम तुम्हें मना न करें तब तक तुम इसमें चढ़ो व उतरो। लो वह चढ़े तो उतरने का काम बाकी और उतरे तो चढ़ने का काम बाकी। आखिर वह देवता बड़ा परेशान हो गया और माफी मांगने लगा—राजन्, माफ करो, हमें छोड़ दो, जब तुम हमारी सुध लोगे तब हम आकर तुम्हारी इच्छा के माफिक काम करेंगे। तो जैसे कठिन देवता को वश में करने का उपाय राजा ने यह पाया कि ऐसा काम बता दिया कि जिससे वह खाली बैठ ही न सका। तो ऐसे ही मन को अच्छे काम में लगाये रहें, दीन दुःखियों का उपकार, धार्मिक वृत्तियां, धार्मिक संस्थाओं के कार्य सब कुछ करें पर अपने उद्देश्य को न भूलें। इन संस्थाओं के काम करने के लिए,

समाज के काम करने के लिए हम जिन्दा नहीं हैं यह निर्णय रखें। ये तो काम परिस्थितिवश करने पड़ रहे हैं, कोई चारा नहीं है। मन को कहां लगाये? आत्मज्ञान और आत्मस्थिरता का उपाय बनाने के लिए मेरा जीवन है। इस उद्देश्य को न छोड़ें। अगर यह उद्देश्य छूट गया तो संस्था या परोपकार या दोनों का उपकार ये सब मेरे लिए मात्र श्रम रहेंगे, लाभ न पायेंगे।

(८८) **शुभोपयोग करने पर भी शुद्ध तत्त्व की भावना में कल्याण—खाना खाने वाले लोग भी तो मिठाई खाते-खाते जब विशेष नहीं खा पाते तो थोड़ा रूखा, चटनी, नमकीन आदिक खाते हैं, और रुचि ऐसी रखते हैं कि खाना मिठाई ही है, और खा नहीं सकते तो थोड़ा चटनी, नमकीन वगैरह बीच-बीच में चलती है। तो ऐसे ही समझिये कि हमारे लिए ये सब कार्य एक परिस्थिति कराती है। चाहिए तो यह था कि कुछ भी न करना पड़ता और एक अपने आत्मा में ही हम मग्न रहते। नहीं कर सकते तो उपकार, शुभोपयोग ये कर लें, पर धुन रहनी चाहिए कि मनुष्य-जीवन पाया है तो आत्मज्ञान, आत्मश्रद्धान और आत्मरमण का उपाय बनाने के लिए पाया है। यों जिसकी चर्या रहती है वह अपने में संतोष पाता है यहाँ वहाँ चलने भागने के बाद फिर अपने घर आता है, अपने धाम में आता है, तृप्ति लेता है और फिर परिस्थितियां प्रेरित करती हैं, लग जाता है, फिर वापिस आप में आता है। तो ऐसा हमारा शुभोपयोग, शुद्धोपयोग दोनों रूप से हमारा जीवन चले तब हम भ्रष्ट भी न होंगे, हम पात्र भी रहेंगे और आत्मसाधना में सफल भी हो सकेंगे। अब वैसे भी देखें, ईमानदारी की चर्या, रात दिन में २४ घंटे होते हैं और पुरुषार्थ कितने बताये हैं—४, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। अब २४ घंटे के ४ भाग कर लेने पर ६-६ घंटे का समय इन चारों कार्यों के लिए निकलता है। ६ घंटे धर्मकार्यों के लिए, ६ घंटे अर्थकार्यों के लिए, ६ घंटे काम कार्यों के लिए और ६ घंटे मोक्षकार्यों के लिए। आजकल मोक्ष पुरुषार्थ नहीं बन पाता और जितना बनता उतना धर्म में शामिल है तो उसकी जगह पर रख लो आपका मनपसंद एक काम बतायें, क्या? निद्रा लेना (हंसी)। तो अपने इस रात दिन के २४ घंटे में अपनी ऐसी एक चर्चा बनाये कि जिससे ये चारों काम बराबर कालविभाग ये चलाये जा सकें और अपने इस दुर्लभ मानवजीवन को सार्थक बनाया जा सके।**

(८९) **चैतन्यकुल में सहज आनन्द की स्वाभाविकी रीति—अब विचारिये तीसरी धुन—मैं सहजानन्दमय हूँ।** सहजानन्दमय। सहज किसे कहते हैं? सहजायते इति सहजं जब से मैं हूँ तब से ही जो मेरे साथ हो उसे सहज बोलते हैं। मैं कब से हूँ। अनादि काल से हूँ। जो अनादि काल से मेरे साथ हो वह कहलायेगा सहज। साथ ही साथ हो और साथ ही साथ रहने वाला मैं हूँ अनादिकाल से, और तभी से ज्ञान, दर्शन, आनन्द, सभी स्वभाव, सभी शक्तियां सभी गुण अनादि से हैं। तो ऐसा जो आनन्द भाव है, जो आनन्द की परिणतियों का स्रोतभूत है उस आनन्दरूप मैं हूँ। जगत में जो सुख देखा जाता है वह भी आनन्द की परिणति है और जो दुःख देखा जाता है वह भी आनन्द की परिणति है। और, प्रभु के जो आनन्द पाया जा रहा है वह भी आनन्द की परिणति है। आनन्द है एक गुण, शक्ति। उसकी विकृत पर्याय है सुख और दुःख किन्तु शुद्ध पर्याय है आनन्द। शुद्ध पर्याय चूंकि गुण के ही समान अनुरूप है इसलिए गुण का भी नाम वही

और शुद्ध पर्याय का भी नाम वही। सुख कहते हैं उसे जो स्व को सु लगे। ख मायने इन्द्रिय और सु मायने सुहावना। जो इन्द्रियों को सुहावना लगे उसका नाम है सुख। और जो ख को दुः लगे, इन्द्रिय को बुरा लगे, असुहावना लगे उसका नाम है दुःख। वैसे जगत में मेरे लिए, आपके लिए, किसी के लिए कुछ भी दुःख नहीं है। जब दुःख स्वरूप में है ही नहीं तो मेरे को दुःख क्या? किन्तु ऊधम मचाते हैं इसलिए दुःख रहता है। वह ऊधम क्या? मैं अपनी कुलीनता में नहीं रहता। मेरा कुल है चैतन्यभाव। हमारा बहुत बड़ा ऊँचा कुल है। उस कुल के अनुसार जब हम नहीं चलते और उस कुल के प्रतिकूल चलते हैं तो यह ही ऊधम है। जैसे किसी बड़े कुल का लड़का ओछा व्यवहार करे तो लोग उसको नाम धरते हैं—अरे तू बड़े कुल का बालक होकर ऐसी गंदी बातों में आ गया। तेरे कुल के माफिक तेरा बर्ताव नहीं है। तो इसी तरह हमारा कुल है चैतन्य और उस कुल के अनुरूप व्यवहार है ज्ञाता द्रष्टा रहना। ज्ञाता न रहकर जहाँ हम परम कुछ निग्रह अनुग्रह करने चलते हैं, भाव बनाते हैं तो हम दुःखी हो जाते हैं।

(९०) सहज आनन्द के लाभ की स्वाधीनता—जिस काम को करने में हम समर्थ हैं, स्वाधीन हैं उसे तो करते नहीं और जो पराधीन काम हैं उनके करने की धुन बनाये हैं तो उसका फल है विफलता और क्लेश। जैसे दो पुरुषों से कहा गया कि तुम इस पर्वत पर पग-पग पर, प्रत्येक स्थल पर घूमकर आओ। अब पर्वतों में तो गाछ भी हैं, वृक्ष भी हैं, कांटे भी हैं, पत्थर भी हैं, कैसे घूमा जायें? तो एक पुरुष ने सोचा कि ऐसा करें कि पहले इस सारे पर्वत पर चमड़ा बिछा दें, फिर आराम से उस पर दौड़ लगायेंगे। दूसरे पुरुष ने सोचा कि मैं अपने पैरों को घुटनों तक अच्छे जूते पहिन लेंगे फिर घूमेंगे। तो अब यह बताओ कि इन दोनों पुरुषों में सफल कौन होगा? अरे सफल तो वही होगा जो जूते पहिनकर घूमेगा। न तो पर्वत पर चमड़ा बिछाया जा सकता, न दौड़ा जा सकता। अपने ही पैरों में जूते पहने और घूमें। हम चाहते हैं कि यहाँ पर सभी जीव इस तरह चलें, यों परिणमें, मेरी इच्छानुसार चलें, पर ऐसा होने का हमको कोई अधिकार नहीं। उनकी जुदी-जुदी कथाय है। वे अपनी इच्छा के अनुसार अपना परिणमन करेंगे। किसी में धर्मप्रेम हो तो दूसरा इच्छानुसार चले या कोई स्वार्थ हो तो इच्छानुसार चले। और इतने पर भी जो वह इच्छानुसार चला सो इसकी इच्छा के कारण नहीं चला, किन्तु स्वयं में ही वैसा भाव उमड़ा कि अपने ही शान्तिलाभ के लिए परिणति की। तो हम सब आनन्दस्वरूप हैं। कष्ट का कोई नाम नहीं। एक को भी कष्ट नहीं, ऊधम में कष्ट है। तृष्णा लगी है। हजार से लाख हों, लाख से करोड़ हों तो तृष्णा में कैसे सुख हो सकता? वह तो ऊधम है। जैनशासन का आदेश यह है कि तुम्हारा कर्तव्य है गृहस्थ हो इस कारण कि ५-६ घंटे धन कमाने की डयूटी करो और जो मिले उसके विभाग बना लो ४-६-१० भाग बनाओ उसमें इतना विभाग धर्म के लिए, इतना विभाग पालन-पोषण के लिए, इतना विभाग काज औसर के लिए। बस इसमें संतोष करे। और यह ही तपश्चरण है कि अगर विभाग इतना मिल पाया पालन-पोषण के लिए कि रूखा-सूखा खाकर रहना पड़े तो उसमें भी प्रसन्न हैं। कोई काम ही नहीं कष्ट का, और फिर हमारे कोई विवशता भी नहीं है, सब खाते-पीते हैं, रहते हैं, पर जो दूसरों को देखकर तृष्णा उत्पन्न होती है बस वह दुःख का कारण है। कष्ट का नाम

नहीं, कष्ट हम बनाते हैं, आनन्द सहज है। आनन्द बनाया नहीं जाता। वह तो जीव का स्वरूप है। कष्ट बनाया जाता है। इन्द्रिय की प्रवृत्ति है। परपदार्थ का लगाव है, पर के संग्रह की आवश्यकता समझी जा रही है। दुःख हो गया। और जो एक अपने ज्ञानानन्द स्वरूप को निरखकर तृप्त रहे, कहाँ कष्ट नहीं तथा यह काम स्वाधीन है।

(११) कार्य करने का भार अनुभव करने में हैरानी—लोग चिन्ता करते हैं कि ये २-४ बालक अभी छोटे हैं, इनका तो मुझ पर भार है, और यह ध्यान में न रहा कि इन छोटे बालकों का इस बाप से भी कई गुना अधिक पुण्य है, जिसके कारण इस बाप को नौकर बनना पड़ रहा है। यह बात तो ध्यान में लाते नहीं और चित्त में यह बात बैठाये रहते हैं कि इनको तो मैं ही पालता हूँ, मैं ही पुष्ट करता हूँ। चिन्ता बना रखी है। जहाँ मिथ्या ज्ञान है वहाँ क्लेश है जहाँ सम्यक् बोध है वहाँ क्लेश का नाम नहीं। एक पुरुष धुनिया (रुई धुनने वाला) विलायत गया हुआ था वहाँ से स्वदेश जलयान में (पानी के जहाज में) बैठकर लौट रहा था। जिस जहाज में वह बैठा था उसमें हजारों मन रुई (कपास) लदी हुई थी। उस कपास को देखकर उस धुनिया को ये विकल्प उठने लगे कि अरे यह हजारों मन रुई हमें ही तो धुननी पड़ेगी। उसके दिल में गम हो गया, सिरदर्द हो गया, बुखार भी आ गया। किसी तरह से वह अपने घर पहुंचा। वहाँ उस धुनिया की दवा करने अनेक डाक्टर आये, पर किसी के इलाज से अच्छा न हुआ। एक बार कोई चतुर पुरुष आया, उसने कहा—क्या हम तुम्हारा इलाज करें?....हाँ कीजिए। तो उसने सबको भगाया, अकेले वह ही रहा और रोगी से बात करने लगा।....कहाँ से आये थे?....विलायत से।....किसमें बैठकर आये थे?पानी के जहाज में बैठकर। उसकी आवाज से ही पहिचान गया कि यहाँ है कुछ निदान।....उस जहाज में कितने आदमी थे?....आदमी तो कोई न था, मगर उसमें हजारों मन रुई लदी हुई थी। वह सब समझ गया।....अरे तुम उस जहाज से आये, वह तो आगे के बन्दरगाह पर जैसे ही पहुंचा, न जाने कैसे आग लग गई कि सारी रुई भी जल गई और जहाज भी जलकर भस्म हो गया। लो वह चंगा हो गया। तो उसके अब यह भाव आया कि हमारी आफत टल गई। अब मेरा धुनने का काम नहीं रहा। लोग विचार कर-करके बाह्य पदार्थों में अपनी चिन्ता बनाते हैं, आनन्द का घात है।

(१२) तृष्णा को उपशान्त करने का उपाय—आज के जमाने में करोड़ों मनुष्य अधिक दुःखी हैं। खाने को भी नहीं पूरता। दुष्काल के प्रभाव से भी प्रभावित हैं। कैसे रहते हैं? भूखे रहते हैं। चिथड़ा भी नहीं है। थोड़ासा चिथड़ा लपेटे हैं। झोपड़ी भी नहीं है, कितने दुःखी है? उनकी अपेक्षा इन समागत पुरुषों में देखो लोग कई गुना सुखी हैं कि नहीं? पर तृष्णा में दृष्टि जगती है इस बात पर कि हमसे ज्यादह धनिक तो ये अमुक लोग हैं, इनके पास कारें भी हैं, बंगले भी हैं, उन गरीबों पर दृष्टि नहीं जाती। कोई पुरुष लखपति है, कदाचित् उसके १ हजार रुपये का टोटा पड़ गया तो यह बड़ा दुःखी होता है, उसकी दृष्टि उस १०००) पर ही रहती है, ९९०००) पर उसकी दृष्टि नहीं जाती। तो दुःखी होने में कारण हमारा ऊधम है। अन्यथा हम स्वभावतः आनन्दमय हैं। मेरे में कष्ट का नाम नहीं। एक १००) रुपये की पूँजी से खोमचा लगाकर पेट

भरने वाले व्यक्ति को कभी एक हजार रूपया मुनाफा में आये तो वह आनन्द मानता है—मुझे ये हजार रूपये मिले हैं। यदि तृष्णा को उपशान्त करना चाहते हो इन अनन्ते दुःखी जीवों पर दृष्टि दो तथा वास्तव में देखो तो सुख दुःख कहा है? जैसा ज्ञान करते हैं, जैसा विकल्प करते हैं वैसी सुख दुःख की बात होती है। बाहर में कहीं न सुख है, न कहीं दुःख है। हम अपने ज्ञान में कुछ बात लाते हैं तो सुखी मान लेते हैं, कभी अपने को दुःखी मान लेते हैं। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। मैं आनन्द से रचा हुआ हूँ। जैसे ज्ञान से रचा हुआ हूँ साथ ही आनन्द से भी रचा हुआ हूँ।

(१३) ज्ञान और आनन्द की परम मैत्री—ज्ञान और आनन्द में भेद नहीं है। जो यथार्थ ज्ञान की वृत्ति है उसका ही नाम आनन्द है। आनन्द का अर्थ है—समन्तात् नन्दनं आनन्दः, नन्दन शब्द बना है दुनिदि समृद्धि धातु से। दु का लोप हो जाता है, इ का लोप हो जाता है बीच में नुम् (न) का आगम हो जाता, शप् (अ) लग जाता, नद का नन्द हो जाता। फिर रूप बनता—नंदन आ समन्तात् नन्दनं आनन्दः। आनन्द का अर्थ है—चारों ओर से समृद्धिशाली बनना। समृद्धि अर्थ में है यह नद् धातु। जो पुरुष सही ज्ञान से सम्पन्न होता है वह पुरुष चारों ओर से सर्व प्रदेशों में समृद्धि से भरपूर हो जाता है। तो ज्ञानघन होना सो ही आनन्द का अनुभव करना है। ज्ञाना दृष्टा रहना यह ही निराकुल दशा है। तो अभेददृष्टि से मैं ज्ञानमात्र हूँ। अगर आनन्द मात्र भी कहूँ तो कुछ हर्ज तो नहीं, लेकिन ज्ञान के बिना आनन्द की खबर कौन ले? और ज्ञान के बिना आनन्द का अनुभव कौन करे? ज्ञान तो अनिवार्य चीज है। आनन्द को ज्ञान गर्भित कर देने पर देखो जो ज्ञान का स्वरूप वर्तन है उसमें कष्ट का नाम भी नहीं। ज्ञान माने बिना बात चलती नहीं सो ज्ञान की ओर से भी देख लो वह ज्ञान की ही एक कला है कि आनन्दमग्न होना। यह आनन्द जो एक वास्तविक आनन्द है वह निरपेक्ष विधि से होता है। किसी भी परपदार्थ की अपेक्षा हो तो यहाँ आनन्द प्रकट नहीं होता। आनन्द का निरपेक्ष स्वरूप है। और जो आनन्दरूप नहीं सो सब क्लेश है।

(१४) वैषयिक सुख में आनन्द का अभाव—वैषयिक सुखों में सर्वत्र क्लेश ही है। उदाहरण रूप में एक खाने का ही सुख लो, तो माना तो जाता है सुख, मगर भीतर में क्षोभ होता है कि नहीं। जब कोई चीज अच्छी लगती होगी तो भीतर में यह स्वभाव से च्युत होता है कि नहीं? क्षुब्ध हो गया। सुख में भी क्षोभ, दुःख में भी क्षोभ। क्षोभ के कारण सुख का यत्न करते हैं और सुख पाने के बाद भी क्षोभ। लोक की कोई भी स्थिति आनन्दमय नहीं है। सर्व क्लेश मय है और आत्मा की सहज स्थिति विशुद्ध आनन्दमय है। मोह रागद्वेष तजो और आनन्द लो। रागद्वेष नहीं तज सकते तो मोह तज लो, आनन्द लो। मोह इसी का ही तो नाम है कि मान लिया कि यह मैं हूँ, यह मेरा है। बात यदि सच है तो मोह करो, कुछ हानि न होगी। वही धर्म बन जायेगा, क्योंकि सत्य बात है, पर सत्य कहाँ है? आपका क्या है यहाँ? कुछ कह सकते क्या? न स्थूल रूप से कह सकते और न सिद्धान्त के रूप से कह सकते। मेरा पर मैं अत्यन्ताभाव है। फिर कौन पर मेरा है? सब पर दुःख आया? क्यों आया कि सब एक ही किस्म के रोग से रोगी है। मोह राग रुष दुःख की खान। रोग हो तो रोगी का चित्त अपथ्य खाने पर ज्यादा चलता है। जो चीज नुकसान करती हो वह

चीज अधिक रुचती है। किसी को वायु का रोग है तो छिलका रहित उड़द की दाल उसे मीठी लगती है। उससे ही तो वह रोग बना और वही खाने का मन करता है। तो उससे कहीं वह रोग दूर हो सकेगा? ऐसे ही जिस मोह के कारण इस जीव को दुःख उत्पन्न होता वही मोह करके यह जीव अपना दुःख मिटाना चाहता है तो उसका यह मोहजन्य दुःख कैसे दूर हो सकता है? जिस प्रकार खून का दाग खून से धोने पर नहीं मेटा जा सकता इसी प्रकार मोहजन्य दुःख को मोह का ही उपाय करके नहीं मेटा जा सकता। मोह का दुःख मिटेगा ज्ञान से। दुःख मिटा तो आनन्द ही आनन्द। बनावट दूर की तो आनन्द ही आनन्द। ऊधम दूर किया तो आनन्द ही आनन्द।

(१५) मोहकलेश को मोहोपाय से मिटाने की अज्ञानियों की चेष्टा—भैया! अपने आत्मा में विशुद्ध विश्राम है तो अपने स्वरूप में है। वहाँ कोई कष्ट की बात ही नहीं है। अन्यथा जैसे ही मोहबुद्धि हुई, विकल्प हुआ कि बस कष्ट ही कष्ट है उसे। कोई एक सेठ दरिद्र हो गया तो उसने सोचा कि अब बहुत दूर देश में व्यापार करने जाना चाहिए। मानो वह आपके महाराष्ट्र प्रान्त का था और चला गया कलकत्ता (बंगाल) वहाँ उसका व्यापार ऐसा जमा कि १४ वर्षों तक उसे घर आने का मौका न मिला। वह अपने घर में अपनी स्त्री तथा एक वर्ष के पुत्र को छोड़कर गया था। जब पुत्र सयाना हो गया, विवाह करने योग्य हो गया तो इधर से उस सेठ की स्त्री ने अपने पति के लिए एक पत्र लिखा कि अपना पुत्र सयाना हो चुका है, आप घर आकर उसकी शादी कर जाइये। सो उधर से वह सेठ अपने घर के लिए रवाना हुआ। उस समय यातायात के यांत्रिक साधन न थे बग्धियों के साधारण साधन थे। और इधर से उस स्त्री ने अपने पुत्र को अपने पति का पता देकर कहा कि तुम इस पते पर पहुंचकर पिताजी को लिवा लाओ। सो उधर से वह सेठ का पुत्र भी रवाना हुआ। रास्ते में दोनों किसी नगर में एक ही धर्मशाला में पास-पास में कमरे में ठहरे। दोनों ही एक दूसरे को देखते, पर अपरिचित होने के कारण एक दूसरे को पहचान न सके। सेठ कई दिनों का थका हुआ था सो धर्मशाला के चपरासी को कुछ इनाम देकर कहा कि मुझे आराम से रात भर रखना, मेरे आराम करने में कोई बाधा न आने पाये। पर वहाँ हुआ क्या कि सेठ के पुत्र के पेट में दर्द होना शुरू हो गया। रात्रि के ९ बज रहे थे। सेठ ने अपने आराम लेने में उसे बाधक जानकर चपरासी को बुलाया और कहा इस बालक को यहाँ से उठाकर कहीं दूर कर दो, हमें नींद नहीं आ रही।....अरे कहाँ ले जाये? रात्रि काफी हो गई है।....अरे ले जाना होगा, मैंने इनाम तुम्हें इस बात के लिए दिया है कि मुझे रात्रि भर आराम से रखो। खैर चपरासी ने उस लड़के को पास के किसी कमरे में कर दिया। वहाँ हुआ क्या कि उस लड़के के पेट का दर्द इतना बढ़ा कि वहीं उसका प्राणान्त हो गया। उस दृश्य को वह सेठ भी देख रहा था पर उसकी आंखों से एक भी अश्रु न गिरा। दूसरे दिन वह सेठ जब घर पहुंचा तो स्त्री ने बताया कि बच्चे को आपके पास आपके लिवाने के लिए भेजा है। वह सेठ तुरन्त बच्चे का पता लगाने लौट पड़ा। पता लगाते-लगाते उस धर्मशाला में भी पहुंचा जिसमें वह ठहरा था। मैनेजर से पूछा—कोई इस नाम का बालक तो यहाँ नहीं ठहरा था। रजिस्टर उठाकर देखा तो कहा—हाँ ठहरा तो था।....वह कहाँ गया?....वह गया कहाँ?

उसका तो पेट दर्द होने से यही प्राणान्त हो गया । प्राणान्त की बात सुनकर सेठ मूर्छित होकर गिर पड़ा । देखिये जब बच्चा आँखों के सामने मर रहा था तब तो एक भी अश्रु न गिरा और जब बच्चा सामने नहीं है मूर्छित होकर गिर पड़ा । यह फर्क किस बात का आया ?....यह फर्क है मोह का । जब सोचा कि अरे वह तो मेरा ही बेटा था जो मेरे आँखों के सामने मरा था तो वह मूर्छित हो गया । तो ऐसा कठिन है यह मोह । इस मोह से उत्पन्न हुआ दुःख मोह करके नहीं मेटा जा सकता । तो इस ममता से ही दुःख है और ज्ञान से ही आनन्द है । हर जगह घटाते जाओ, सर्वत्र मिथ्या ज्ञान का ही क्लेश है ।

(१६) अविकारस्वभावी बालमूर्ति भगवान आत्मा की उपासना में सहज आनन्द का अभ्युदय—मैं तो सहज आनन्दस्वरूप हूं । एक अपने आपको ही सम्हाल लूँ तो सभी जीव सम्हले हुए हैं । सबके साथ कर्मोदय है । यथार्थ बात समझ लें तो इसकी चिन्तायें दूर होती हैं । फिर अपने आपमें ही विश्राम पाये । अपने को देखो कि मैं सहज आनन्दस्वभावी हूं । कष्ट है विकार । और किसी भी वस्तु में अपने आप विकार होता नहीं । परसंग पाये बिना विकार हो नहीं सकता । कुन्दकुन्द भगवान ने स्पष्ट बताया है कि ‘जह फलियमणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रायमादीहिं । रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहि दोसेहिं ।’ अमृतचन्द्र सूरि ने भी स्पष्ट कहा हैं कि “यथा खलु स्फटिको पलः स्वयं परिणामस्वभावत्वेऽपि स्वस्य शुद्धतया स्वयं रागादिभिर्न परिणमते, किन्तु स्वयं रागादिभावापन्नतया परद्रव्येणैव स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन रागादिभिः परिणमते । तथायमात्मा” इत्यादि । जैसे स्फटिक पाषाण है वह अपने शुद्ध स्वच्छ स्वभाव को लिए हुए है । वह अपने आप लाल पीला आदिक रूप नहीं परिणमता । वह अपना एकत्व लिए हुए है । वह तो किसी लाल पीली आदिक चीज का निमित्त पाकर उसरूप परिणम जाता है । यही बात इस आत्मतत्त्व की है । न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः । तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽपमुदेति यथार्ककान्तः ॥ अर्थात् यह आत्मा शुद्ध स्वच्छ स्वभाव वाला है, यह स्वयं अपने आपकी कषायों का निमित्त नहीं बन सकता । होता क्या है कि जो स्वयं में क्रोध है, मान है ऐसी जो प्रकृति है वह है इस आत्मा के क्रोध, मान आदिक का ज्ञानविकल्प के माध्यम से निमित्तभूत । उसका उदय है । उस समय उन कर्मों में स्वयं खलबली है । उसके विकल्प से जीव में खलबली नहीं होती क्या? क्षोभ दोनों जगह है, भले ही उसका अनुभव न कर सके कर्म, पर खलबली तो होती है । जब कान में नींबू का रस या कोई रसायन की चीज डाली जाती है तो वहाँ एक उफान आता है, पर उसका अनुभव नहीं कर सकता कान, पर उफान आना, क्षुब्ध होना यह बात जीव में भी होती है, अजीव में भी होती है । जैसे कोई चूने का डला ६ महीने का म्याद वाला है वह तो उसका उदय है, पर उसमें पानी पड़ जाये तो वह जल्दी ही पिघल जाता है । तो यह उसकी उदीरणा हो गई, ऐसे ही ये कर्म जो पहिले बँध रहे थे उनमें अनुभाग उसी समय निश्चित हो गया था । जब उदयकाल आया तो वह अनुभाग फूट पड़ा, विस्फोट हो गया । जैसे मानो बम फूटा । कर्म फूटा, कर्म में विस्फोट हुआ । अब एक क्षेत्रावगाह है यह जीव । तो मेरे में जो कुछ कर्म का रंग है, जो कुछ भी विष है, जो भी उसका अनुभाग है वह यहाँ न्यक्काररूप में झलका और तुरन्त ही यह स्वभाव से च्युत हो गया और

च्युत होकर फिर उसको अपनाने लगा। विकार बन गया, आनन्द का घात हो गया। कोई बच्चा पीछे से जोर से डराने के लिए एकदम बोल दे तो धधक जाता है ना। उस धधक में होता क्या है कि हम अपने स्थान से खिसक गए और उस उपयोग में लग गए। यह ही बात तो उस कर्म के ऊधम में होती है उस विकार से निज भगवान आत्मा को देखो, सहज आनन्द का अभ्युदय होगा।

(१७) जीवाधिकार के निमित्तभूत कर्मों की वास्तविकता—ये कर्म काल्पनिक नहीं हैं। कल्पना से बनते तो जरूर हैं, मगर बनने के बाद फिर कहें कि वे तो काल्पनिक हैं, उन पर निमित्त का उपचार किया जाता है। ये उपचार वाले निमित्त नहीं हैं। रोटी सिकती है तो आग पर निमित्त का उपचार है क्या? यह उपचार वाली बात नहीं है। वहाँ निमित्त पाकर उपादान में अपना प्रभाव होता है। हाँ स्वतंत्रता अवश्य है कि रोटी अपने आपके शीत पर्याय को छोड़कर उष्ण पर्याय में आयी, कच्ची अवस्था त्यागकर पक्की अवस्था में आयी यह रोटी की अवस्था आग से नहीं आयी। अग्नि और रोटी दोनों नहीं पकी। पकी रोटी, पर परसंग बिना यह विकार नहीं बन सकता। जीव के विकार में तीन प्रसंग आया करते हैं—उपादान, निमित्त और आश्रयभूत। ग्रन्थों में आश्रयभूत को भी निमित्त कहते हैं और निमित्त को भी निमित्त कहते हैं। जैसे सम्यक का निमित्त है ७ प्रकृतियों का उपशम आदिक। और यों भी तो लिखा है कि सम्यक्त्व का निमित्त है जिनविम्बदर्शन, देवदर्शन, वेदनानुभव, परोपदेश। निमित्त की बात कहते तो हैं मगर विवेक करना चाहिए कि वास्तविक निमित्त के लिए यह निमित्त शब्द कहा है और आश्रयभूत के लिए यह निमित्त शब्द कहा है। दूध दूध सबका नाम है। बरगद के पेड़ से भी दूध निकलता है, गाय, भैंस वगैरह से भी दूध निकलता है, और एक आक का पेड़ होता है उसमें भी दूध निकलता है। नाम धर दिया दूध, इसका भी है उसका भी है, पर पीने वाला विवेक रखता है ना कि यह आक का दूध तो काँटा निकालने के लिए है और गाय भैंस का दूध यह पीने के लिए है। तो यहाँ भी विवेक रखना होगा कि जिनविम्बदर्शन या नौकर-चाकर या पुत्र-मित्र जो प्रेम के, क्रोध के कारण बनते हैं, वे आश्रयभूत कारण हैं। निमित्त कारण तो उस प्रकार का कर्मोदय है।

(१८) निमित्तकारण का समुचित वर्णन स्वभावदृष्टि के लिये—ग्रन्थों में निमित्त कारण की बात बताकर स्वभावदृष्टि करायी गई है कि यह नैमित्तिक भाव है, तेरा सहज उत्पन्न होने वाला भाव नहीं है। तू उनमें राग मत कर। तू अपने स्वभाव को पहिचान। आनन्द का घात यों ही तो किया जा रहा है। भले ही कर्मोदय हो। यदि ज्ञानबल इतना है कि हम आश्रयभूत में उपयोग नहीं जुड़ाते तो व्यक्त विकार तो बनेगा ही। अव्यक्त विकार में आस्त्र बंध की विशेषता नहीं। इसीलिए तो चरणानुयोग की सेवा है? तो स्वभावदृष्टि करना है, उसमें ही आनन्द मिलता है। परदृष्टि में अनात्मतत्त्व को अपनाने में आनन्द का घात है। तीन तरह के जीव हैं ना बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो देह जीव को एक माने सो बहिरात्मा याने जो बाहर की चीजों को आत्मा माने सो बहिरात्मा। जो अन्दर के स्वरूप को आत्मा माने सो अन्तरात्मा याने ज्ञानानन्दस्वभावमात्र अपनी प्रतीति रखे सो अन्तरात्मा और जो परम हो गया आत्मा सो परमात्मा। परम का अर्थ है परा मा लक्ष्मी विद्यते यत्र सः परमः परमश्चासौ आत्मा चेति परमात्मा। परमात्मत्व प्रकट होता है

नित्य अन्तःप्रकाशमान चित्स्वभाव की उपासना से । चित्स्वभाव की उपासना की प्रेरणा निश्चयदृष्टि से मिलती है, क्योंकि निश्चय दृष्टि में किसी भी अन्य का लक्ष्य नहीं है । इसी प्रकार चित्स्वभाव की प्रेरणा व्यवहारदृष्टि के निर्णय से भी मिलती है, क्योंकि व्यवहारनय ने यह बताया कि विकार नैमित्तिक है, परभाव है, आत्मा का स्वभाव नहीं । ऐसा निरखने वाला पुरुष वही तो होता है जिसने स्वभाव का परिचय किया है । सो वह नैमित्तिक भाव से हटकर सहजभाव में उपयुक्त हो जाता है

(१९) आत्मा का स्वरूप और अभिन्न कर्तृत्व—मैं क्या हूँ? क्या करता हूँ? क्या भोगता हूँ? मेरा क्या है? इन चार प्रश्नों का सही उत्तर पा लेने में आनन्द का मार्ग मिलता है । मैं क्या हूँ? मैं ज्ञानज्योतिर्मय पदार्थ हूँ । जिसके साथ श्रद्धा, चारित्र, आनन्द आदिक सभी लगे हुए हैं मेरा क्या है? मेरा स्वरूप सो ही मेरा है । मेरा वह है जो मेरे से कभी अलग नहीं होता । जो मेरे से अलग हो जाये वह मेरा क्या? लोग घर को क्यों मानते कि यह मेरा है? उन्हें यह विश्वास है कि इस घर को कोई छुड़ा नहीं सकता । इस घर से मुझे कोई निकाल नहीं सकता । इसकी नगरपालिका में रजिस्ट्री हो गई है । मान लिया है कि यह मेरा है, पर यह भी तो छूटेगा । मेरा क्या है? मेरा स्वरूप मेरा ज्ञानानन्द वैभव । मेरा निज अंतः प्रकाशमान जो सहजस्वरूप है वह मेरा है । इस सहज स्वरूप का जिसने भान किया, इस सहजस्वरूप में जिसकी रुचि जगी, इस सहजस्वरूप की ओर जो नम्र हुआ वह पवित्र पुरुष है । मेरा केवल एक ज्ञानानन्द वैभव है । मैं क्या करता हूँ? केवल अपने आपके परिणाम को करता हूँ । पर इससे बाहर कुछ करने का सामर्थ्य नहीं । वस्तुस्वभाव ही यह है कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपका ही परिणमन करने में समर्थ होता । पर को मैं करता हूँ । यह भ्रम क्यों लग गया, इसमें तथ्य तो है निमित्तनैमित्तिक भाव पर उससे बढ़कर चले तो कर्तृकर्मभाव में आ गए ।

(१००) मेरे रूप में कर्तृकर्मत्वभाव का अभाव—कर्तृकर्मभाव की बुद्धि मिथ्या है, निमित्त नैमित्तिकभाव का संदर्शन सम्यक् है । मेरा बाहर में कुछ भी नहीं क्यों नहीं कि वह मेरे साथ नहीं है । मैं उनकी परिणति नहीं कर पाता । और उनको भोग भी नहीं पाता । मैं सबसे निराला अपने आपमें रहता हुआ अपनी ही तरंगों से बना रहता हूँ । मैं परपदार्थ को जानता हूँ । इतना भी तो कर्तृकर्मत्व नहीं है । मैं जानता हूँ इसका अर्थ यह है ज्ञान जो गुण है उसके अनुरूप परिणमता रहता हूँ । पर को जानता नहीं, क्योंकि जानने का आधार है ज्ञान का प्रदेश । जानने की क्रिया का आधार है आत्मा का प्रदेश । कहीं प्रदेश को छोड़कर क्रिया हुआ करती है? कोई भी जगह देख लो । कुल्हाड़ी की क्रिया, चाकू की क्रिया, चाकू को छोड़कर कहीं अन्यत्र हो जाती है क्या? मेरी क्रिया मेरे को छोड़कर अन्य जगह कहाँ होगी निराधार? तो मेरी जानन क्रिया है, वह मेरे प्रदेश में ही है । यह मेरी कला है कि मैं जानता रहता हूँ और जगत में जो जैसा पदार्थ है वैसा जानता रहता हूँ । ऐसा जानने पर भी किसी भी पदार्थ ने मेरे में कुछ लाया नहीं, मैंने परपदार्थों में कुछ किया नहीं । ऐसा ही सहज योग है कि मैं जानता रहता हूँ । और ऐसा जानता रहता हूँ जैसे कि जगत में पदार्थ । अब यहाँ यह कहना कि मैं पर पदार्थ को जानता हूँ, यह व्यवहार है और वो उपचार है । और बूढ़े कर्तृकर्म भाव है । कर्तृकर्मभावरूप में ऐसा ही कोई सही माने तो मिथ्या है । कहने में दोष नहीं, कहने की संक्षिप्त भाषा ही

यह है, अगर ऐसा ही कोई सही समझ लें कि मैं इन पदार्थों से जानन किया को प्रेरित करता रहता हूँ सो बात गलत है। मैं अपने आपमें रहता हुआ ही जानता रहता हूँ। कर्तृकर्मभाव नहीं है।

(१०१) दृष्टान्तपूर्वक अन्योग्यकर्तृत्व के उपचार के मिथ्यापन का दिग्दर्शन—भींत पर यह लाल रंग पुता है तो कहते हैं लोग कि हमने भींत को लाल कर दिया या यह लाल रंग भींत का है। वस्तुतः ये दोनों बातें गलत हैं। लाल रंग ने भींत को लाल कराई नहीं किया, किंतु किया क्या कि लाल रंग ने अपने ही प्रदेशों में इतना फैलाव बना लिया। भींत का कुछ नहीं किया। यह रंग था डले के रूप में। पानी का सम्बन्ध पाकर यह रंग बहुत पतला फैल गया। तो जो उसके रूप में था वही पतला फैलकर ऐसा बन गया। इसने अपने आपका फैलाव किया, भींत का कुछ भी नहीं किया। वह तो इस लाल रंग का ही लाल रंग है, भींत का लाल रंग नहीं है। तत्त्वदर्शी पुरुष ऐसा जानता है। कहने को तो कहा हो जाता है। ऐसे ही मेरे ज्ञान में विषयभूत हुए हैं, पर पदार्थ, पर मैंने पर पदार्थों को जाना सो बात नहीं। मैंने अपने आपको ही जाना, पर यह व्यवहार हम क्यों करते हैं कि इस चौकी को विषय करते समय मैंने क्या किया है? इसको बताने का और कुछ उपाय नहीं है। यही कहना पड़ेगा कि मैंने चौकी को जाना। मेरे जानने में चौकी विषयभूत हुई और मेरा जानना भीतर में इस तरह चल रहा, इसको बताने वाला शब्द क्या है? बस यह ही शब्द है यह ही व्यवहार है।

(१०२) आत्मतत्त्व की सुध भूलकर पर में उपयुक्त होने का दुष्परिणाम—निश्चय से मैंने अपने में अपने आपका जानन किया अपने में अपने ज्ञान का विकल्प किया। अपने में अपने ज्ञान के अनुसार क्षोभ, शान्ति, आनन्द किया। इसका किसी पर के साथ रंच भी सम्बंध नहीं है। पर वाह रे मोह, तुमने अनादिकाल से अब तक भटकाया, मैं अपने ऐसे निर्लेप आत्मतत्त्व को दृष्टि में न ले सका। व्यर्थ क्रिया की, व्यर्थ समय खोया, व्यर्थ विकल्प किया, फल यह मिला कि नाना दुर्गतियों में जन्ममरण करके दुःख उठाया। एक ही कर्तव्य है इस जीवन में करने का कि सबसे निराले इस अंतस्तत्त्व के दर्शन कर लें। इसी में बुद्धिमानी है, चतुराई है, इसके सिवाय बाकी कितने ही अड़ंगे बनें, उनमें इस जीव को कुछ भी सार की बात नहीं है। आनन्द का धाम है यह स्वयं आत्माराम। केवल आनन्दधाम में ही बसे तो इसका आनन्द सामने है। और आनन्दधाम को छोड़कर बाहरी बातों में कर्तृत्व भोक्तृत्व का विकल्प करे तो क्लेश संक्लेश है। मन के विषय को बढ़ाया, लोग मुझे अच्छा समझें, व्यर्थ का विकल्प किया। हो ही नहीं सकता ऐसा, और हो ही जाये तो उसे क्या मिला? तीन लोक के जीव भी कदाचित् प्रशंसा कर दे तो भी उससे मेरे को क्या मिलता है? कुछ भी नहीं। भगवंत् प्रभु इस अंतः परम तपश्चरण के प्रसाद से हुए हैं। अपने स्वरूप को अपने में समाये रखना, अपने से बाहर न जाना, यह ही विधि थी, तो प्रभुता पायी। इसके लिए पहले कुछ यथार्थ बोध चाहिए। और क्रोध, मान, माया, लोभ को दूर करना चाहिए।

(१०३) धर्मप्रकार में धर्मपालन की विधि का संकेत—धर्मपालन की विधि यह दशलक्षण धर्म का क्रम बता देता है। क्रोध, मान, माया, लोभ इनका परिहार करें तो इससे सत्य उत्पन्न होगा। जब तक कषाय है तब

तक सत्य का विकास नहीं है। हो ही नहीं सकता। आपेक्षिक सत्य को कोई सत्य मान ले वह बात अलग है मगर वास्तविक सत्य तब ही प्रकट होता है जब कषायें दूर होती हैं। सत्य प्रकट हुआ अर्थात् स्वच्छता प्रकट हुई तो इसमें वास्तविक संयम पात्रता होती है। जैसे आक्सी का कांच जिसको सूर्य के आगे करने पर, सूर्य की किरणों को केन्द्रित किए जाने पर नीचे रखी हुई रुई अथवा कागज के टुकड़े जल जाते हैं। बालक लोग इसका बहुत खेल करते हैं। तो अगर वह कांच मैला है तो उसमें सूर्य की किरणों को केन्द्रित करने का सामर्थ्य नहीं है। और न उसमें प्रताप का सामर्थ्य है। तो सबसे पहले उस कांच को साफ किया, स्वच्छ बनाया, फिर संयत कर दिया तो उसका फल यह होता है कि जो उसके नीचे प्रताप उत्पन्न होता है तब वह जलने लगता है, और जलकर अकिञ्चन रह जाता है। रहा कुछ नहीं। ऐसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ का मैल दूर करके सत्य उत्पन्न किया, फिर उस सत्य में उपयोग का संयमन किया तो भीतर में वह चैतन्य का प्रतपन होता कि यहाँ से मैल का त्याग होने लगता है तब यह अकिञ्चन बन जाता है। बाहर कुछ नहीं है इसका, जो है सो ही है, इस विधि से यह ब्रह्मचर्य पद को पाता है अर्थात् आत्मा को आत्मा में मग्न करने की पूर्ण स्थिति तब प्राप्त होती है।

(१०४) निजएकत्व के परिचय में आत्मबल का अभ्युदय—जितना अपने को अकेला समझा जाये उतना ही तो बल बढ़ता है और जितना अपने को २ में ४ में मिला हुआ देखा जाये उतना ही इसका बल घटता है। कोई अकेला रह जाये तो लोग कहने लगते कि यह बड़ा अभागा है। अरे अभागा है कि उसे पवित्रता प्रकट होने का मौका मिला। अपने को अकेला अनुभव करने का मौका मिला है। अपने को अकेला अनुभव करने का सौभाग्य किसे प्राप्त हो सकता? संसार के विरले भव्य पुरुषों को छोड़कर सारे जीव मलिन हैं, इनको यह सौभाग्य नहीं मिला कि वे अपने को अकेला अनुभव कर सके। अपने को एक अकेला समझना है। देह से भी न्यारा, कर्म से भी न्यारा, क्रोधादिक भावों से भी न्यारा, तर्क तरंगों से न्यारा, ज्ञान की वृत्तियों से न्यारा सहज ज्ञानानन्द स्वभाव मात्र यह मैं अकेला हूँ, ऐसी जिनकी दृष्टि पहुंची उनके सहज आनन्द प्रकट होता है करने का यही काम है। स्थिर आसन करके श्वास नली को सीधा रखकर कुकड़ न बैठें, नमकर न बैठें, सीधा बैठकर और अपने आपकी दृष्टियों को बन्द करके भीतर में निरखें, सारे विकल्प छोड़ दें। जब सर्वत्र धोखा है तो मैं किसी को सोचूँ ही क्यों? विश्राम से बैठ जाये, एक निर्विकल्प दशा होगी, मात्र सत्य आनन्द का अनुभव होगा, वह दशा न ठहरेगी, लेकिन उसके स्मरण से सारा जीवन शान्ति में व्यतीत होगा। जैसे कि संसारी मनुष्य बढ़िया पदार्थ खाते हैं, बहुत मधुर मिठाई खाते हैं, तो खाने के बाद कुछ रहता नहीं कि गले में कुछ अटका हो या जीभ पर हो। वह गया सो गया, मगर खाते समय जो उन्होंने मौज माना उस मौज का स्मरण करके बाकी दिन भी खुश होते रहते हैं। आज मैंने यह खाया। अरे खाया वह तो गया, रहा कहां, पर उसका स्मरण करके दिन भर खुश रहते हैं, यह तो यहाँ की माया की बात है, पर जिसने अपने में उस सहज आत्मीय आनन्द का दर्शन किया, स्पर्श किया, अनुभव किया उसके स्मरण के प्रसाद से उस भव्यपुरुष के संवर की पात्रता है, निर्जग की पात्रता है, आनन्द की पात्रता है, पवित्रता रहती है

।

(१०५) अच्छा बुरा सब अन्दर में खोजने से सही तत्त्व का निकाल—कुछ खोजना है तो अन्दर में खोजना है । बाहर में खोजने का श्रम करना, दिमाग लगाना यह इसके लिए बेकार है । जहाँ एक कल्याण के प्रसंग की बात कही जा रही उसमें यह ही निर्णय है, तो अपने को अपने में परिपूर्ण निरखने का काम पड़ा है । बाह्य पदार्थ कोई मुझे कष्ट नहीं देते, ये बाहरी पदार्थ कोई मुझ पर जबरदस्ती नहीं करते कि तुम मुझे देखो, सूँघो, सुनो, खाओ । यह ही जीव अपनी योग्यता से कल्पनायें कर करके इन विषयों पर टूट पड़ता है । इसमें अपराध किसी बाहरी पदार्थ का नहीं है । जैसे कि लोग सोचते रहते हैं कि मुझको इसने दुःखी किया, मुझको इसने कष्ट में पटका । बालक की तरह । अगर २-१ वर्ष के बालक को उसकी माता लिए जा रही है, दरवाजे से निकलते समय जरासा कपाट उस बच्चे के सिर में लग जाये तो वह रोने लगता है । तो वह मां उसका रोना बंद कराने के लिए क्या उपाय करती है कि उस कपाट में दो एक तमाचा लगा देती है । वहाँ वह बच्चा यह सोचता कि इस कपाट ने मुझे दुःखी किया तो मेरी मां ने उसे सजा दिया । तो ऐसी ही दशा इन अज्ञानी जीवों की है । वे कल्पनायें करते हैं कि इसने मुझे दुःखी किया इसको सजा देना चाहिए । इसने मुझे कष्ट में डाला तो मैं भी इसे दुःख दूँगा । अरे कष्ट में डालने वाला कोई दूसरा नहीं है । भीतर से कल्पनायें जगाते और कष्ट पाते ।

(१०६) सकल जीवों में स्वरूपसमता की दृष्टि का विलास—सब जीवों को समान समझें । सबमें परमात्मस्वरूप के दर्शन करें । मनुष्यों की तो बात ही क्या है ? पशुपक्षी, कुत्ता बिल्ली, कीड़ा मकोड़ा आदि इनमें भी परमात्मस्वरूप का दर्शन करें । हैं तो सब समान पर कर्मोपाधिवश यह ऊपरी अन्तर आया है । आपकी वृत्ति सौम्य हो जायेगी । मच्छर काटेंगे तो आप थप्पड़ न लगायेंगे । उसे प्रेम से भगायेंगे, क्योंकि मच्छर का काटना सहा तो जाता नहीं, भगाना पड़ेगा और साथ ही उसके आत्मा के प्रति विश्वास है कि है तो परमात्म स्वरूप । कर्मोदय इस प्रकार का है । किसी बात पर अन्याय न कर सकेगा ज्ञानी पुरुष । मेरे को कष्ट देने वाला मेरा ही खोटा परिणमन है । बाहरी पदार्थ कोई मेरे को कष्ट नहीं पहुंचाता । अगर यह बुद्धि जगती है कि इसने कष्ट दिया, इसने सुख दिया तो वह अज्ञान है । राग स्वयं अपवित्र चीज है । राग स्वयं अंधकार है । राग में की हुई चेष्टा बुद्धिमानी नहीं है । अगर किसी राग की प्रशंसा भी की गई । जैसे दर्शनविशुद्धि भावना में कल्याण भावना की प्रशंसा की गई । सब जीवों पर इतना अनुराग उमड़ा है कि सबके कल्याण की भावना है सबके कल्याण की भावना हुई है । तीर्थकर प्रकृति का बंध होता है? तो उस राग में तीर्थकर प्रकृति के बँधने का सामर्थ्य जो आया वह इस ही सम्यक्त्व के संपर्क के कारण आया । किसी बड़े आदमी के साथ रहने वाले चपरासी में भी तो एक प्रभुता बनी रहती है । इस सम्यक्त्व के साथ रहने वाले राग में इतनी प्रभुता है कि तीर्थकर प्रकृति का आस्तव हो जाता है, पर वह प्योर याने सिर्फ राग का सामर्थ्य नहीं । किन्तु इस सम्यक्त्व के सहवास का सामर्थ्य है कि कल्याण भावना के अनुराग से तीर्थकर प्रकृति का बंध होता है ।

(१०७) स्वाधीन वर्तना में विडम्बना का अभाव—सर्वत्र, मैं अपने में अपना काम करता हूँ मैं अपने में अपनी परिणतियों को भोगता हूँ। मेरे को कहीं टोटा नहीं, मेरे को कहीं हानि नहीं, मेरा किसी भी स्थिति में बिगड़ नहीं। क्यों हठ हो बाहरी पदार्थ का। कर्तव्य भले ही हो, जिस परिस्थिति में हैं। मगर यह मानना कि ऐसा हुए बिना मेरा जीवन क्या? यह हठ न होना चाहिए। जो प्रकृति को मंजूर है वह यहाँ होता रहे। जो मेरे को मंजूर है वह धन मेरे पास सदैव है। बिगड़ क्या है? ऐसा अपने में अपने को अकेला जो निरखे वह पुरुष बड़ा पवित्र आत्मा है। शुद्ध ज्ञान का प्रकाश हो वही स्थिति उत्तम है और यह हो सकता है शुद्धज्ञान की दृष्टि से ही, शुद्ध ज्ञान का संचेतन करने से ही। वहाँ बंध नहीं, वहाँ आपत्ति नहीं, ज्ञानप्रकाश में कोई विडम्बना नहीं।

(१०८) सत्सङ्ग की महिमा—जब चरित्र सुनते हैं कि श्री नेमिकुमार सजी सजाई बारात में से एक थोड़ा योग पाकर लौट गए, दीक्षित हो गए और यह राजुल भी वहाँ जाकर पहले तो थोड़ा अनुराग की बात की, पर बाद में वह भी दीक्षित हुई, प्रसन्न हुई। मोही जीव कथा तो सुन लेते हैं, पर भावभासना नहीं बनती। शायद वे सोचते होंगे कि ऐसा हो कैसे सकता है? वह तो कथा है, सुन लेने के लिये हैं, वह बात चित्त में नहीं आ सकती। कैसा अपूर्व अलौकिक प्रेम नेमी का राजुल पर कि जिसकी मिसाल नहीं हो सकती, खुद दीक्षित होकर कल्याण तो किया ही और राजुल भी विरक्त होकर दीक्षित होकर अपना कल्याण कर गई यह नेमि के धर्मवात्सल्य का प्रभाव है। ऐसे वात्सल्य की कोई मिसाल भी हो सकती है क्या? तो जिनको अपने जाननस्वभाव की प्रीति है उनका सहवास उनका सत्संग करने वाला पुरुष भी संसार से पार हो जाता है। ऐसी गोष्ठी, ऐसा रोज का प्रसंग, ऐसा यहाँ का सत्संग यह तो एक अपूर्व घर है, अपूर्व कुटुम्ब है, जिसकी कोई मिसाल नहीं। लोक का माना हुआ कुटुम्ब तो पाप में लगाने की प्रेरणा करता है। अगले भव और गति को बिगड़ने का ही प्रोग्राम बनाता है। उसे क्या कहेंगे? परिवार। सत्य परिवार है धर्मात्माजनों की गोष्ठी, धर्मात्माजनों का मिलन। जहाँ सबका ही यह परिणाम हो कि मुझे कुछ न चाहिए। न विषय न कीर्ति, न नाम न यश। जो धर्मात्माजनों को चाहिए सो मुझे। ज्ञान वैराग्य की प्रीति इन्हें सो मुझे, इसी में सब बढ़े मैं भी बढ़ूँ। यहाँ कुछ न रहेगा। जो न रहेगा, उसका लगाव क्यों करूँ? ऐसा अन्तः आत्महित के जहाँ प्रोग्राम चलते हों, कुटुम्ब वह है। मित्र मण्डली है वह सच्ची जहाँ ज्ञान के संचेतन के लिए प्रेरणा मिलती हो। जहाँ ज्ञान का संचेतन नहीं वहाँ ही यह विकल्प है कि मैंने पर को किया और पर को भोगा। मैं अपने ज्ञान को ही भोगता हूँ। कर्म आते हैं, उनका अनुभाग होता है, उनका फल आता है। अरे वह मेरे चेतने के बिना ही निकल जाये मेरे भोग में मत आये, क्योंकि इसका लगाव इसका भोग बहुत कटुक परिणाम देता है। जिन्होंने सहज आनन्द का स्वरस में अनुभव किया है उनको अस्थिर विषय क्या नीके लग सकते हैं? जिसने अपने ज्ञानप्रकाश को ज्ञान में मिलाकर अथवा एक तन्मय होकर एक क्षेत्र बनाया उस पुरुष को ये इन्द्रिय विषय, मन के विषय ये कुछ मूल्य नहीं रखते। ऐसा यह मैं स्वयं ज्ञानानन्द स्वभाव से परिपूर्ण हूँ।

(१०९) प्रबल एकत्वदृष्टि में अद्भुत अविचलता—जिसके निज एकत्व की जितनी दृष्टि प्रबल बनेगी, अधिक दृढ़ बनेगी उसको जरा-जरा सी घटना जरा-जरा सी हानि जरा-जरा से गाली के शब्द ये विचलित न कर सकेंगे। असल में यह बात है कि ज्ञानी को ज्ञान इतना प्रियतम बन गया उस पुरुष को कि बाहरी बातें, उपद्रव कितने ही आये तो उन्हें भी सहता, परवाह नहीं करता पर ज्ञान को नहीं छोड़ता जैसे यहाँ के मोही लोग जिन्हें धन प्रियतम हो गया, या जो भी प्रियतम बना उसे नहीं छोड़ता। चाहे कितने ही कष्ट सहें, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानभाव को नहीं छोड़ता, चाहे वह कितने ही कष्ट उठा ले, उपद्रव आ जाये पर इतना भी नहीं सोचता कि अगर यह ख्याल मुझे चोट रहा है तो इसे भगा दूँ, फिर अच्छी तरह ध्यान करूँ। बीच में भी यह विकल्प करूँ और भगाऊँ तो आगे की क्या आशा है कि विकल्प न हों। यह ही उन उपसर्गों के सहने की कुञ्जी है। जैसे कहते हैं कि गोद का लड़का छोड़कर पेट की आशा करना। यह एक कहावत है। तो जो मेरे अनुभव में आ रहा, ज्ञानस्वरूप में ज्ञानस्वरूप की अनुभूति को तजकर क्या आशा करना कि मैं इस गीदड़ी को भगा दूँ फिर बाद में आराम से आत्मा में मग्न होऊगा, उसकी क्या आशा करना? उपसर्ग सहते।

(११०) अन्तर्मग्न होने का ज्ञानी का दृढ़ निर्णय—ज्ञानी के एक ही निर्णय है कि ज्ञान को ही भोगना है दूसरा कोई प्रोग्राम नहीं है, क्योंकि उसको अपने आपमें अपने स्वरूप का दर्शन हुआ। और अलौकिक आनन्द आया है। जो स्वरूप बस देखा ही जा सकता है, अनुभवा ही जो सकता है, पर शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता। जिसका दर्शन हुआ है, उसका आनन्द, तो अनुभवा जा सकता, पर कहा नहीं जा सकता शब्द जितने हैं वे सब विशेषण हैं। विशेष्य कोई शब्द नहीं। व्यवहार में भी तो जितने शब्द हैं वे सब विशेषण हैं। जैसे—चौकी—जिसके चार कोने हों, यह कोई नाम तो नहीं लिया गया। अभी तो विशेषण ही लगाया, लोटा, जो लौटता रहे, भीत, जिसमें ईंटें भिच गई उसका नाम है भीत। तो कौनसा शब्द ऐसा है कि जो असली नाम हो। नाम बदला कोई शब्द नहीं। सब विशेषण हैं। ओर कुछ गुंजाइश ही न थी तो किसी भी विशेषण को नामरूप में रख दिया। मेरा कुछ नाम नहीं, मैं अपने को कषायसहित कहूँ तो गलत, कषायरहित कहूँ तो गलत। कषायसहित स्वरूप थोड़े ही है। स्वरूप में तो अविभागप्रतिच्छेद है। कषायरहित में क्या जाना गया? कषायसहित में क्या जाना गया? खुद तो नहीं जाना गया। खुद तो एक ज्ञायक भाव स्वरूप है, सो भी विवश होकर शब्द में बोलना पड़ा। वह शब्द भी एक विशेषता बतला रहा है कि जाननहार। समस्त ख्यालात छोड़कर प्रसंग छोड़कर परमविश्राम से कोई अपने में स्थिर हो तो सब बातें उसके अपने आप प्रकट हो जाती हैं।

(१११) परिणाम की परख—जैसे बड़े-बड़े जलाशयों का पानी आताप से, सूर्य की किरणों से भाप बनकर अपने असली घर से उड़कर बहुत ऊपर बड़े अन्तर से कठोर रूप में रहा करता है, उन्हें कहते हैं बादल। समुद्र में ही था वह नम्र था, पर आताप के कारण वह पानी उड़ा, भाप बना और बहुत ऊपर कठोर रहने लगा। और गरज रहा बहुत-बहुत। वही पानी अपनी कठोरता छोड़कर जब बरसता है तो बरसकर निम्नता

प्रकृति के कारण बह-बहकर उसी जलाशय में इकट्ठा हो जाता है। क्या ढंग रहा? अपने स्थान से उड़ा, कठोर बना, फिर पिघला, बरसा, नीचे की ओर ढला और जहाँ का तहा पहुंच गया। ऐसे ही इस ज्ञान जलाशय से अब ताप के कारण आशा आदिक अग्निसंतापों के कारण यहाँ से उपयोग उड़ा और किस-किस ढंग में बाहर गया, बाह्य पदार्थों का सहारा लिया, कठोर बना। कहाँ तो यह स्वभाव से भोला, सरल, अविकार और कहाँ उपयोग क्रोधी, मानी, कपटी, लोभी आदि कितने ही विकल्पों से यह उपयोग कठोर बना गया। कठोर बनकर उड़ रहा है। बाहर ऊपर चारों तरफ उड़ ले, आखिर उड़ने के बाद जब समय आयेगा तो यह उपयोग नम्र होकर फिर अपने स्थान की ओर हो लेगा उन सब स्थानों से हटकर अपने आपके धाम में आयेगा। निम्न बनकर, नम्र बनकर अपने आपकी ओर अभिमुख होकर जब यह उड़ा हुआ उपयोग अपने मूल इस ज्ञान जलाशय में मिल जायेगा तब उसकी भटकना बंद हो गया समझिये और नाटक भी पूरा हो गया। तो इस सारे नाटक के बीच यह सोचना चाहिए कि हम किस जगह का पार्ट अदा कर रहे हैं। उड़ रहे का कर रहे, कठोर बनने का कर रहे या नम्र बनने का कर रहे, गरज रहे का कर रहे या नम्र बनने का कर रहे या निजधाम में मिलने का कर रहे।

(११२) निजगुणपरिणति के सिवाय अन्यपरिणति किये जाने की अशक्यता—अपनी गुणक्रिया के सिवाय जीव और करता ही क्या है? सर्वत्र उसकी यह ही बान पड़ी हुई है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं करता, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं भोगता। बाहर अणु मात्र से भी मुझ उपयोग का कोई सम्बंध नहीं। यह तो इकतरफा बात चल रही है। जैसे कि लोग कहते हैं कि मान न मान, मैं तेरा मेहमान। जगत के ये बाह्यपदार्थ मुझको कुछ भी नहीं मानते, मान ही नहीं सकते, दोष की भी बात नहीं। वस्तु का स्वरूप है ऐसा। कोई किसी दूसरे को कुछ ले दे नहीं सकता। जो कोई कुछ भी करता है सब अपने आपमें अपनी चेष्टा करते हैं। तो मेरे को कौन मानता है? कौन समझता है और मैं मान न मान मैं तेरा मेहमान यह है सब संसारी जीवों की आदत। किसी भी परद्रव्य से रंच भी सम्बन्ध नहीं। अनेक भव बिता डाले। जो कवायत आज कर रहे हैं, जो श्रम और व्यायाम इस जीवन में कर रहे हैं वहीं श्रम और व्यायाम पहले भी अनेक भवों में किया। उस श्रम का फल क्या मिला? कुछ है क्या हाथ? तो जैसे इस भव में पहले भवों में समागत चीजों को सर्वस्व मानकर उस अज्ञान में रहकर जीवन बिताया वैसे ही आज-आज के समागमों में रहकर, अज्ञानी बनकर जीवन बिताया जा रहा है।

(११३) निराकुल होने का स्वाधीन सरल उपाय—“राग त्यागि पहुंचूँ निज धाम, आकुलता का फिर क्या काम?” सरल है उपाय, सच्चा है उपाय, स्वाधीन है उपाय। करना भी क्या है? सब कुछ तैयार है, परिपूर्ण है, निस्पन्न है। केवल एक भोगने अर्थात् दृष्टि देने भर की ही कमी है। इसके लिए बहुत साहस बनाना होगा। पहला साहस है लोभ का त्याग। वैभव में घर में, मकान में, इनमें मोह का त्याग। इनसे निराला हूँ मैं, मिल गया अटपट। उदयवश हो गया तो इसमें मेरी कला कुछ नहीं है वर्तमान भाव से यह सम्पदा नहीं आती योग संयोग है आ गयी। उसमें मेरा क्या? उसमें क्यों जकड़ा रहूँ, क्यों उसमें महत्त्व बनाये रहूँ? यह

अंधकार है। अंधेरे में भला नहीं। ज्ञानप्रकाश में आओ।

(११४) फसाव से हटकर निजधाम में पहुँचने का उपायदर्शी आकस्मिक साधन—कोई एक पुरुष किसी दूसरे गांव से अपने गाँव को जा रहा था, रास्ते में शाम हो गई। और, अनेक रास्तायें फूटी हुई थीं। रास्ता भूल गया और जंगल में जाकर फँस गया। रात्रि के ९-१० बज गए, परन्तु वह आगे बढ़ता गया इसलिए कि रास्ता मिल जायेगा तो मैं जंगल से निकल जाऊँगा, पर ज्यों-ज्यों चलता गया त्यों-त्यों जंगल में उलझता गया। बीहड़ पहाड़ी जंगल था। किसी आदमी का वहाँ नाम नहीं। वह बड़ा घबड़ाया। थोड़ा धैर्य बनाकर सोचता है कि अब आगे मत बढ़ो, यहाँ तो जितना बढ़ते हैं उतना ही फँसते जा रहे। सो वह उसी जंगल में एक जगह रुक गया, बैठ गया, लेकिन चिन्ता बनी हुई है। कहाँ फँस गया? यहाँ से निकल भी सकूँगा या नहीं? बस चिन्तातुर बैठा हुआ था। अचानक ही मेघ में बिजली चमकी और उससे थोड़ा क्षणिक उजाला हुआ कि उस उजाले में कुछ दूर नीचे की ओर सड़क दिख गई। बिजली खत्म, प्रकाश खत्म, वही अंधेरा, वही बीहड़ जंगल। वे ही सारी बातें, क्षणिक उजेले में जो सड़क दिख गई, यह मार्ग है, बस इतने भर ज्ञान से अब उसमें चैन आयी। कुछ शान्ति है, धीरता से बैठा है, प्रतीक्षा कर रहा है। आने दो छुटपटा सवेरा, यहाँ चलना है, सड़क है, उससे चलकर अपने गाँव में पहुँच जायेंगे। ऐसी ही यात्रा मेरी हो रही, ऐसी ही यात्रा यही मनुष्यों की है। यह चलता जा रहा है, अनेक गलियाँ हैं, गलियों में भूल जाते हैं अनेक गोरखधंधों में फँस जाते हैं। दुःख के बीहड़ जंगल में फँस गए, और ऐसा फँसे कि निकलने का रास्ता नहीं दिखता। ज्यों-ज्यों बढ़ते हैं त्यों-त्यों और भी फँसते जाते हैं। बहुत फँसा बहुत घूमा, बड़ा बैचैन है। थकान के मारे वह बैठ गया। कभी यह मनुष्य थककर भी अच्छी बात कहने लगता है। मगर वह रोष में कहता है। ऐसे ही सही, थक गया, बैठ गया क्षणभर के लिए उसने उस बड़ी आपत्ति के अवसर पर सबका ख्याल भुला दिया। सब बेकार है। जब ज्ञान की नौबत आती है, प्राण जाने का समय आता है तो उद्बोध आता ही है। किसका ख्याल करना? यदि मर गए, किसी बाघ सिंह ने खा लिया तो हम तो गए। किसके लिए मरना? सबका ख्याल छोड़े, कुछ धर्म की ओर चित्त दें, कुछ बाहरी श्रम से मुख मोड़ें, कुछ विश्राम हो। इतने में क्षणभर को ही बाहरी ख्याल छोड़ने के प्रताप से भीतर में एक प्रकाश हुआ। ऐसी ज्ञानविद्युत चमकी क्षणभर को जिसमें स्पर्श तक न कर पाये, किन्तु तक सो लिया गया। समझ में आ गया कि यह है अपना असली धाम। यह है शान्ति का घर, विश्राम का घर। तो बड़े दुःख के बीच रहकर भी अब इस ज्ञानी को धैर्य आ जाता है। परवाह नहीं। ज्ञान तो गया, वह है मार्ग। जो निज में तकेगा, उस पर चलेगा उसका सब झगड़ा शान्त हो जायेगा। देख लिया वह रत्नत्रयमार्ग भीतर ही अपने में उस पर चलेगा। वह मार्ग तो बड़ा साफ है, स्वच्छ है, पर कुछ दूर है। अणुव्रत की पगड़ंडियों से चलकर उस स्वच्छ पथ पर पहुँचने का पात्र हो ही जायेगा। उसे धैर्य है, रह रहा है गृहस्थी में, पर चित्त शान्तिधाम में पड़ा हुआ है। ऐसा जिसने अपने विज्ञानघन आनन्दस्वरूप निज तत्त्व को साक्षात् किया, प्रत्यक्षभूत किया, ज्ञान द्वारा अनुभव में लिया वही पुरुष अमीर है, वही पुरुष श्रेष्ठ है, वही पुरुष है, यह ही कल्याण है, बाकी सब गोरखधंधा है।

(११५) आत्मस्वरूपपरिचय की प्रयोगसाध्यता—इस आत्मस्वरूप का परिचय तो प्रयोग से ही मिलता है, शब्दों से नहीं, पंक्तियों से नहीं, अर्थ से नहीं। प्रयोग से। जैसे मिश्री के स्वाद का सही परिचय खाने से मिलता है, समझाने से नहीं, बोलने से नहीं, ऐसे ही इस अविकार ज्ञानघन अंतस्तत्त्व के परिचय का स्वाद प्रयोगात्मक परिचय से प्राप्त होता है। विकल्प तोड़े, दिल को हल्का करें, चित्त को ढीला करें, विश्राम में लाये तो सहज ही ऐसी ज्ञान ज्योति उमड़ेगी कि उसका दर्शन होगा, उसका स्पर्श होगा। बस उस पर चलने का काम है। गुप्त ही गुप्त कहीं भी एकान्त में, घर में किसी भी जगह धुन बनाकर इसका अनुभव करें, आस्वाद लें, बस यह ही शरण होगा। जगत में कोई दूसरा शरण नहीं है। हमारे अनुभवी पुराण पुरुषों ने जिन्होंने इस आत्मतत्त्व का अध्ययन किया, अपने अनुभव हम सब पर करुणा करते हुए अपनी लेखनी से लिख गए। हम बांच लेते हैं पर प्रत्येक शब्द का यह शब्द क्यों दिया? उसका अध्ययन करें तो उसके भीतर मर्म छिपा तत्त्व है, विधि है उसे खोजा जा सकता है। यों तो कुछ लोग कहते हैं कि राम रावण के युद्ध के समय वानर सेना ने समुद्र को लांघा। सारा समुद्र लांघ गए। कथायें हैं उनकी। दृष्टान्त के लिए मान लो, भले ही लांघ लिया हो लेकिन समुद्र में क्या-क्या रत्न छिपे हुए हैं, क्या-क्या उसमें पड़ा है इसका परिचय क्या समुद्र लांघने से हो जायेगा? यह परिचय तो समुद्र में डुबकी लगाने से होगा। भीतर ही भीतर खोजने से होगा। कि यहाँ कैसे-कैसे रत्न पड़े हैं। ऐसे ही हम पन्ने उलट कर पढ़ते चले जाये और अर्थ पर दृष्टि नहीं, संगत शब्द की चर्चा नहीं, हम मर्म नहीं समझ सकते कि जो अनुभव आचार्य संतों ने किया, बात कही।

(११६) अज्ञान में विकार का आमंत्रण—ज्ञानघन यह आत्मा किस प्रकार परवश हो रहा, बँधा हुआ सा, अधीर बन रहा, दुःखी हो रहा। वह कोई वातावरण ही तो है। भले ही प्रत्येक पदार्थ की निज-निज में ही परिणति होती है। पर विकार के लिए यदि स्वतंत्र है तो विकार फिर मिटने का अवसर कहाँ? विकार होना पड़ रहा है, विकार करना पड़ रहा है। जिसको अविकार स्वभाव के देखने की रुचि है वह स्पष्ट जानता है पूर्वबद्ध कर्म जब भूत प्रेत से भी भयानक स्थिति में आते हैं याने उनके अनुभाग का जब उदय होता है तो वह अपने आपमें विरूप हो जाता है, क्षुब्ध हो जाता है। उनमें विस्फोट होता है। वह सब कर्म की परिणति है। पर हो तो रहा यह एक क्षेत्रावगाह और वह सारा मौज, सारा रंग इस उपयोग में बसा। यह उपयोग गंदा हुआ और फिर इतनी मूढ़ता कि उस गंदेपन में आये उपयोग को अपना भी लिया। यह सब क्या है? यदि किसी दृष्टि को अपने में थोड़ी जगह देवें या मेहमान का बड़ा आदर करें। जिस मेहमान की यह झँझँ है कि मैं इस घर में महीनों रहूँ, तो वह तो रहेगा। उसका आदर किया ना? तुमने मेहमान को अपना लिया। प्रभावित हो गए। यह नहीं जाना कि यह तो मेहमान है। महिमा न, जिसकी कोई महिमा नहीं, उसी को तो मेहमान कहते हैं। जो रंग आया? जो कषाय आयी वैसा बुद्धि में रंग गया। भय में भय किया। जिस प्रकृति का रंग हुआ उसकी झाँकी हुई, इस उपयोग ने अपनाया और अपने आप पराधीन बना। जगत में रुल रहा।

(११७) रहे सहे जीवन का सदुपयोग कर लेने में विवेक—भैया! जरा चिन्तन कीजिये कि जगत में लोग

जब चाहे मर जाते हैं। कोई गर्भ में, कोई बाहर आते ही मर जाता, कोई शिशु, बालक, कोई जवान, कोई वृद्ध, यों जब चाहे जो चाहे मर जाता है। अभी तक जीवित हैं तो समझो कि मुफ्त ही जीवित हैं। अभी तक जीवित हैं यह तो बड़े आश्चर्य की बात है। अन्य की भाँति हमारा भी जीवन खत्म हो गया होता तो हमारी क्या हालत होती? न जाने किस पर्याय में होते? न जाने क्या स्थिति होती? आज तक जो जीवित हैं तो समझो कि यह जीवन मुफ्त ही मिला है। अभी तक हम आप जिंदा हैं इसमें आश्चर्य है। मर जाने में क्या आश्चर्य? जैसे जल का बुद्बुदा, उसके कुछ समय तक टिक जाने में आश्चर्य है, उसके फूटने में क्या आश्चर्य? ऐसे ही हम आपके जीवित रहने में आश्चर्य है। मरण में क्या आश्चर्य? तो इस दुर्लभ जीवन को पाकर यह समझें कि हमारा यह जीवन आत्महित करने के लिए मिला है, अन्य फिजूल की बातों के लिए नहीं। तो जो यह रहा सहा जीवन है इस जीवन का हम सदुपयोग करें। सदुपयोग यही है कि ऐसा पौरुष करें कि इन परतत्त्वों से हटकर निज तत्त्व के ज्ञान में, चिन्तन में, मनन में देखते ही रहें आत्मा को। जिसे बैठना कहते ऐसा भीतर आराम से बैठना ही रहे, इस ज्ञान द्वारा ज्ञानधाम में ज्ञान को बिठायें। भीतर का यह पौरुष होना चाहिए, जीवन की सफलता इस ही अन्तर्याल में है।

(११८) मंगलमय होने का तंत्र—यह मंगलतंत्र मंगलरूप होने का उपाय है। मंगल अर्थात् मंगल याने पाप को नष्ट करने वाला। मंगल याने मंगल, मंग मायने आनन्द, आनन्द को लाने वाला। ऐसा जो भाव है उसे कहते हैं मंगल, अर्थात् जहाँ दोष एक भी न रहे और गुण सम्पूर्ण प्रकट हो ऐसी अवस्था को कहते हैं मंगल। यह मंगलतंत्र मंगलमय होने का तंत्र है अर्थात् उपाय है। मंगलस्वरूप चूंकि केवल ज्ञानमय है, अतः सर्वप्रथम अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करना चाहिए। इस ज्ञानमात्र तत्त्व में पर का प्रवेश नहीं है, जैसे कि आकाश के स्वरूप में किसी पर का प्रवेश नहीं। जब प्रवेश नहीं तो भार ही किसका? जब भार नहीं तब विह्लता ही क्यों? तो ज्ञानमात्र सोचते ही विह्लतायें दूर हो जाती हैं। इस मुझ मंगलमय स्वरूप में सर्वत्र ज्ञानघन बसा हुआ है। यह मैं अपने आपमें ज्ञान से ऐसा परिपूर्ण हूँ, परिपूर्ण था, पूर्ण हूँ, पूर्ण रहूंगा तो यहाँ कुछ अधूरापन है ही नहीं, फिर मैं क्यों कुछ सोचूँ? मैं तो कृतकृत्य हूँ। यह मैं मंगलमय अंतस्तत्त्व अपने आप स्वतः सिद्ध सहज ही आनन्दस्वरूप हूँ। जब मैं स्वतः आनन्दस्वरूप हूँ तो मेरे में कष्ट का कुछ अवकाश ही नहीं है जहाँ कष्ट नहीं और आनन्द ही आनन्द सहज आनन्द बस रहा हो वहाँ स्वयं अनुपम तृप्ति होती है। तो यह मैं मंगलमय अंतस्तत्त्व स्वयं तृप्ति हूँ। ऐसे शुद्ध मंगलस्वरूप कारणसमयसार की जो आराधना है वह ही मंगल होने का उपाय है। इस उपाय में अनादि अनन्त अहेतुक शाश्वत ज्ञानमूर्ति अंतस्तत्त्व की आराधना की है। इस आराधना के प्रसाद से ही मंगलमय अवस्था होती है।

॥ मंगलतंत्र प्रवचन समाप्त ॥

सात्त्विक रहन-सहन

आत्मा की सात्त्विकता—हम सब जीव शांति चाहते हैं, और जितने भी प्रयत्न करते हैं वे सब शान्ति पाने के लिए किया करते हैं, किन्तु शान्ति है कहा? जहाँ यह परिस्थिति बने कि जो जैसा है उसे वैसा रहने दें। जो स्वयं जैसा है उसे वैसा जानें, देखें। इस वृत्ति का नाम है सात्त्विक वृत्ति। आत्मा का स्वभाव केवल एक प्रतिभास है, ज्ञाता द्रष्टा रहने का है। इसका विशुद्ध स्वरूप और परिणमन केवल एक प्रतिभास है। सात्त्विक स्वरूप और परिणमन केवल एक प्रतिभास है। सात्त्विक स्वरूप यह है और इस वृत्ति से चलना सो आत्मा का सात्त्विक रहन-सहन है।

आत्मविराघक शृंगार—सात्त्विक स्वभाव वाले इस आत्मा पर जब शृंगार लाद दिया जाता है तब यह आत्मा बोझल हो जाता है और इसे जगत में रूलकर दुःखी होना पड़ता है। इस आत्मा पर क्या शृंगार लादा जाता है? शृंगार नाम है अन्य चीज लादने का। स्वयं में से स्वयं उत्पन्न हुई सुन्दरता को लोग शृंगार नहीं कहा करते। वह तो सुन्दरता है, शृंगार बाहरी चीजें लादने को कहा करते हैं। इस आत्मा में शरीर कर्म रागद्वेष विचार विकल्प ये सब शृंगार आत्मा को पहना दिये जाते हैं। तो इस आत्मा की क्या विडम्बना होती है, इसके परखने वाले ज्ञानी साधु पुरुष हुआ करते हैं और जो इसी शृंगार में इब्रे हुए हैं वे संसारी मोही प्राणी हैं, उनमें ऐसे आकार वाले बुरे नहीं जंचते। और ऐसे शृंगारीजन ऐसे शृङ्गार के रुचिक लोगों में अपना शृङ्गार बनाया करते हैं।

सात्त्विक वृत्ति का प्रकाश—जैसे अध्यात्म स्थिति में सात्त्विक रहन-सहन और शृंगार वेश-भूषा फैशन का जो एक अन्तर है ऐसा ही अन्तर व्यवहार में सात्त्विक रहन-सहन और शृंगार शौक फैशन में वैसा ही अन्तर है, जैसे है वैसे ही अपने को रखें। हाँ गृहस्थावस्था में व्यवहारिकता भी रहती है विशेष, अतः साधारण कपड़े पहिन लें, स्वच्छ साफ कपड़े पहिन लें, बस यही तो है सात्त्विक रहन। जिस जगह भी आडम्बर, सजावट न रहे, वहाँ राग प्रदर्शक बातें न रहें यही है सात्त्विक निवास। कोई कुछ कहे उन बातों में क्षोभ न लाना और उनकी उपेक्षा करना, शान्त भाव से रहना, यही है सात्त्विक सहन। सात्त्विक रहन, सात्त्विक निवास, सात्त्विक सहन, सात्त्विक आहार, यही सब है सात्त्विक वृत्ति।

सात्त्विकता में आराम—जैसा रोज-रोज खाया जा सके वैसा ही खाना यही है सात्त्विक आहार। अहिंसापूर्ण भोजन हो, रसीला, स्वादिष्ट चटपटा न हो, मसाले की किसी साग वगैरह में आवश्यकता क्या, थोड़ा छौंकते समय कुछ जरूरतसी पड़ती है, उसके बाद जितना मसाले का संचय होगा वह फिर मसाले का साग बन जायेगा। जैसे परवल है, उसमें खूब मसाले डालकर बनाया तो वह साग परवलों का न रहेगा, वह मसाले का साग बन जायेगा। ये सब असात्त्विक बातें हैं। सीधे-साधे सरल ढंग से रहना चाहिए। सात्त्विक रहन-सहन भोजन में ऊब न होकर वास्तविक प्रसन्नता रहती है।

सात्त्विक आहार में निर्वाध निर्वाह—एक बार ईरान के बादशाह को भारत के बादशाह ने निमंत्रण दिया,

तो आप जानते हैं कि जितनी तरह के व्यञ्जन बनाना—हिन्दुस्तान जानता है हमारे ख्याल से उतनी तरह के पकवान व्यञ्जन बनाना किसी देश वाले नहीं जानते होंगे । ईरान के बादशाह को खूब नाना व्यञ्जन खिलाये । बादशाह खाता जाये और कहता जाये जापते ईरान, भोजन तो ईरान का है । भारतवासी बादशाह यह सोचता है कि भोजन तो हमारे देश का किया है और प्रशंसा ईरान के भोजन की करता है । अब कुछ दिन बाद ईरान के बादशाह ने भारत के बादशाह को बुलाया तो वहाँ के भोजन में क्या, वही सीधी रोटी साग । तो परेशान होकर सोचता है कि यह तो ईरान के भोजन की बड़ी प्रशंसा करता था । यह तो कुछ भी नहीं है, तो बादशाह से पूछा कि तुम तो ईरान के भोजन की बड़ी प्रशंसा करते थे, क्या यही ईरान का भोजन है? तो वह बोला—हां साहब यही ईरान का भोजन ।....बढ़िया किस तरह? आप यहाँ वर्षों तक बने रहें तो हमारी कभी यह इच्छा न होगी कि आप यहाँ से जायें, बहुत दिन हो गए । सादा भोजन है, आप खूब खायें, और तुम्हारे देश में कोई ६ महीने भी रह जाये और वैसा ही भोजन खिलाते रहें तो कुछ दिन बाद आपके मन में फर्क आ जायेगा । यह कब तक रहेगा यहाँ ? यह है सात्त्विक आहार ।

सात्त्विक वृत्ति से आनन्दपात्रता—सात्त्विक वृत्ति व्यवहार में इस जीव को ऐसा पात्र बना देती है कि यह आध्यात्मिक क्षेत्र में अपनी सात्त्विकता से प्रीति करना चाहे तो कर सकता है । देखो जितने भी महापुरुष हुए हैं वे कितने सात्त्विक रहन-सहन के थे । उनकी पोशाक, उनका रहन-सहन देख लो । भारत में आपके गांधी जी हुए, और त्याग क्षेत्र में जो त्यागी सन्त जन प्रसिद्ध हुए हैं उनकी सात्त्विकता देख लो, जिसने बड़े वर्णी जी महाराज का दर्शन किया होगा वे खूब पहिचानते होंगे, उनके हृदय में सात्त्विकता, ऊपर सात्त्विकता, बोली में सात्त्विकता थी और ऊँचे जैसे-जैसे लोग बढ़ जाते हैं सात्त्विकता की वृद्धि होती है । मुनि अवस्था और किसका नाम है? भीतर सात्त्विकता, ऊपर सात्त्विकता पूर्ण रूप से हो, उसी का नाम मुनि है । कोई शृंगार नहीं, सज-धज नहीं, बनावट नहीं, दिखावट नहीं, जैसा चाहे तैसा रह गया इसी के मायने हैं साधु । तो अब दृष्टि हो, सात्त्विक रहन-सहन से रहा जाये तो वहाँ शांति का अवसर मिलेगा ।

किसका शृंगार—भला देखो तो सही, यह शरीर क्या है? चमड़े की पर्तों से ढका हुआ हाड़-मास मज्जा है । जैसे कभी किसी अच्छे पुरुष को आप घर बुलाये और घर में आपके यहाँ कुछ रही-फही चीजें अटपट पड़ी हैं तो आप उस पर कोई रङ्गीन पर्दा वगैरह डाल देते हैं ताकि वह चीज ऊपर से बढ़िया चिकनी चमकती हुई मालूम पड़े । और अगर कोई उसे सुहावनी देखकर उसका दर्शन करने लगे तो ऐसे ही समझिये कि इस आत्मा अतिथि को रिझाने के लिए बस देह घर की ऐसी सजावट बनाते हैं । हाड़, मांस, मज्जा, खून, पीप इत्यादि सभी पड़े हुए हैं उस घर में और उनके ऊपर सुहावना चिकना एक यह पर्दा पड़ा हुआ है चमड़े की पर्तों का । यह अतिथि ज्ञाता कभी कौतूहल से इस ज्ञानरूपी हाथ से इस चमड़े की पर्त को हटाकर भीतर निगाह करे, तो सब पता पड़ जायेगा । ऐसे ही इस शरीर को सजाने का परिणाम रखें कोई तो समझो कि जैनधर्म से कितना विपरीत जा रहे हैं अर्थात् धर्म में लगने का वहाँ अवसर कहाँ है? शीशे में बार-बार मुख देखा, खूब सजावट किया, पाउडर लगाया, लिपिस्टक लगाया अनेक प्रकार के गहनों से इस

शरीर को सजाया, कान में तैया, नाक में मक्खी, मस्तक पर मकड़ी, ये सारे गहने शरीर में खूब लाद लिये तो यह बताओ कि इसमें कौन-सा विवेक का काम किया ? अरे इन शौक शृङ्खारों से हटें और अपने कर्तव्य की बात सोचें ।

शृङ्खार से हानियां—अपने में आत्मीयता का नाता रखें, मैं आत्मा हूँ, मुझे सुखी होना है । यह संसार मायारूप है, क्षणभंगुर है, कितने दिनों का है । अपने आपको अपने आपके हित की बातों में लगायें, और बाहरी बातों की उपेक्षा करें । देखिये इस शृङ्खार से कितनी हानियां हैं, मिथ्यात्व का पोषण है । इस शरीर को आत्मा मानना इसी का नाम मिथ्यात्व है ना, और शरीर पर इतनी ज्यादा दृष्टि देना साज शृङ्खार की तो यह मिथ्यात्व का पोषण है कि नहीं? ठीक है, सभ्यता के नाते थोड़ा हो गया, और सुन्दरता उस ही सात्त्विक वृत्ति में आती है । जैसे मान लो मुँह पर पाउडर लगाने से एक शृङ्खार बनता है तो थोड़ा क्यों लगाते, ज्यादा जो लगा लो ताकि ज्यादा सुन्दरता बढ़ जाये । अरे देखने वालों को अगर यह ख्याल आ जाये कि पाउडर पुता है तो उतने से ही उनके दिल से सुन्दरता उतर गयी ।

सात्त्विकता में लाभ—भैया ! जो बात सात्त्विकता में है, वह व्यवहार में लाभदायक है और अध्यात्मक्षेत्र में भी लाभदायक है । दिखावट, सजावट, बनावट से कुछ लाभ नहीं है । जैसे व्यवहार में सजावट से दूर रहना एक लक्ष्य में होना चाहिए ऐसे ही अध्यात्मक्षेत्र में भी सजावट से दूर रहना एक लक्ष्य में होना चाहिए । जैसे गहनों से अपने शरीर को कोई लादे तो इसी का नाम सजावट है ना, इसी तरह इन परभावों की रागद्वेष विषय कषायों को अपने उपयोग में ग्रहण करके आत्मा में सजाना लगाना इस रूप में अपने को मानना यह आत्मा की बनावट सजावट की जा रही है ।